

# वैशेषिक दर्शन

( सरल भाषानुवाद व व्याख्या सहित )



सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

**पं० श्रीराम जी शर्मा आचार्य**

चारों वेद, १०८ उपनिषद् षट्दर्शन, २० स्मृतियां, योग वासिष्ठ, व १८ पुराणों के भाष्यकार, गायत्री महाविद्या के विशेषज्ञ और बहुसंख्यक हिन्दी ग्रन्थों के रचियता।



प्रकाशक :

**संस्कृति संस्थान**

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली-२४३००३ (उ० प्र०)


4732

# वैशेषिक दर्शन

( सरल हिन्दी व्याख्या सहित )





सम्पादक :

**पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**

चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट्दर्शन, योग वासिष्ठ,
२० स्मृतियों एवं १८ पुराणों के प्रसिद्ध
भाष्यकार ।



प्रकाशक :

**संस्कृति संस्थान**

**ख्वाजाकुतुब, (वेदनगर) बरेली-२४३००३ (उ० प्र०)**

फोन नं० ७४२४२

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, (वेद नगर)

बरेली—२४३००३ (उ० प्र०)

फोन : ७४२४२

✻

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

✻



✻

संशोधित संस्करण :

सन् १९९०

✻

मुद्रक :

शैलेन्द्र वी० माहेश्वरी

नव ज्योति प्रेस

सेठ भीकचन्द मार्ग मथुरा

✻

मूल्य :

पन्द्रह रुपये मात्र

# भूमिका

भारतीय दर्शनों की एक मुख्य विशेषता यह है कि वे किसी भी विषय का प्रतिपादन करते हुए अन्तिम लक्ष्य मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति का ही रखते हैं। यह देखकर अल्पज्ञ व्यक्ति भारतीय धार्मिक साहित्य पर यह आक्षेप किया करते हैं कि "उसमें आध्यात्मिक-जगत् की काल्पनिक बातों पर ही दिमाग लड़ाया गया है और प्रत्यक्ष संसार का ध्यान ही भुला दिया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश व्यक्ति भौतिक प्रगति की ओर से अनभिज्ञ और उदासीन रह जाते हैं और व्यर्थ की कल्पनाओं में अपने समय तथा शक्ति का अपव्यय करते रहते हैं।" पर यह आक्षेप सर्वथा सत्य नहीं है और इसका मुख्य कारण आक्षेपकर्त्ताओं की द्वेष बुद्धि अथवा भ्रमोत्पादन दृष्टिकोण ही है। संसार में मनुष्य की जैसी स्थिति है और प्रकृति ने उनमें आत्म-पोषण की जो प्रवृत्ति उत्पन्न की है उसके फल से भौतिक स्वार्थ के लिए प्रयत्न करना तो उसके स्वभाव का एक अङ्ग ही है। भोजन, वस्त्र, घर, विवाह, सन्तान, जमीन, जायदाद आदि के लिए तो प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक चेष्टा करता ही रहता है। इन बातों के लिए जोर देने या समझाने-बुझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

संसार में कमी तो परमार्थ भावना की ही दिखाई पड़ती हैं। अपने लिए अधिक-से-अधिक प्राप्त करने और वश चले तो दूसरों का भाग भी हड़प कर सबसे बड़ा बन जाने की महत्वाकांक्षा कोई असाधारण बात नहीं है। चाहे इस उद्देश्य में सफलता मिले या न मिले पर इस प्रकार की भावना सौ में से नब्बे मनुष्यों के हृदय में आती

ही है। इसलिए यदि हम भौतिक सफलता के साथ लोगों को आध्यात्मिक पक्ष का भी ध्यान रखने का उपदेश देते रहें तो कोई विवेकशील अनुचित नहीं कह सकता। संसार की प्राचीन और नवीन तथा बड़ी और छोटी सभी जातियों के अनुभव का यही निष्कर्ष है कि यदि मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहता है तो उसे लौकिक और पारलौकिक, स्वार्थ और परमार्थ दोनों पहलुओं में उचित सन्तुलन रखना चाहिए। जहाँ कोरा स्वार्थ—लौकिकता मनुष्य को दानव, दैत्य, राक्षस बनाती है वहाँ अकेला परमार्थ पारलौकिकता मनुष्य को प्रायः कर्त्तव्य शून्य, निकम्मा और परमुखापेक्षी बना देती है।

वैशेषिक दर्शन की यही विशेषता है कि उसमें यद्यपि मुख्य रूप से प्राकृतिक तत्वों—पदार्थों की ही गवेषणा की है और एक भी सूत्र में आत्मा के अतिरिक्त ईश्वर या ब्रह्म का उल्लेख नहीं किया है, पर ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य धर्म का आचरण करना ही बतलाया है, जिसमें आत्मा बन्धनों से मुक्त हो सके। वैशेषिक दर्शन का पहला सूत्र इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है कि 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' अर्थात् "अब धर्म की व्याख्या करते हैं" धर्म का लक्षण या स्वरूप क्या है इसको दूसरे सूत्र में कह दिया गया कि "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिस्स-धर्मः।" अर्थात् "जिससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो और मोक्ष की सिद्धि हो सके वही धम है।" इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में भी कह दिया गया है कि 'दृष्टानां दृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय अर्थात् शास्त्रों ने लौकिक और पारलौकि कल्याण के लिए जिन धर्मकृत्यों का उपदेश दिया है उनका अनुष्ठान सदैव करते रहना चाहिए चाहे उनका कोई प्रतिफल जान पड़े या नहीं।' धर्म कार्य करते रहना जीवात्मा के लिए सब तरह से कल्याणकारी ही है चाहे उनका शीघ्र ही कोई प्रत्यक्षफल न भी दिखाई पड़े।

वैशेषिक के रचयिता महर्षि [illegible] ने [illegible]

परमाणुओं से बतलाई है। जब परमाणु एक दूसरे से पृथक् अवस्था में रहते हैं तब प्रलयावस्था होती हैं और जब वे परस्पर में मिलकर भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों व नामों की रचना करने लगते हैं तो जगत् का आविर्भाव हो जाता है। सृष्टि निर्माण की क्रिया को स्पष्ट करने के लिये वैशेषिक ने छः प्रकार के पदार्थों की कल्पना की है जिनको १—द्रव्य, २—गुण, ३—कर्म, ४—सामान्य, ५—विशेष, ६—समवाय कहा गया है। द्रव्य से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पाँचों भूतों और काल, दिशा आत्मा और मन—चार सूक्ष्म तत्वों का अर्थ लिया गया है। इन द्रव्यों में चौबीस प्रकार के गुण पाये जाते हैं जिनकी सहायता से वे विभिन्न प्रकार को क्रियाओं के उपयोगी सिद्ध होते हैं। चौबीस गुणां में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तो पाँचों इन्द्रियों से सम्बन्धित विषय हैं ही। इसके सिवाय संख्या परिणाम, पृथकत्व, संयोग विभाग, गुरुतत्व, द्रवत्व, स्नेह आदि द्रव्यों से सम्बन्धित विशेषताओं को भी इनमें सम्मिलित कर लिया गया है फिर वुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म संस्कार भी जीवात्मा तथा मन के धर्म या गुण ही हैं। गुणों की परिभाषा ही यही है कि वे किसी द्रव्य के आश्रय में रह सकते हैं, स्वतन्त्र नहीं।

**कर्म**—कर्म के पाँच विभाग किये हैं— १. उत्क्षेपण ऊपर फेंकना, २. अवक्षेपण—नीचे गिरना, ३. आंकुचन—सिकोड़ना, ४. प्रसारण—फैलाना, ५. गमन—अन्य सब प्रकार की क्रिया या हरकत। कर्म भी द्रव्य का ही गुण है। अन्तर इतना ही है कि गुण तो द्रव्य का निश्चित धर्म है जो सदैव उसके साथ रहता है, पर कर्म ऐसा गुण है जो कभी रहता और कभी नहीं रहता।

**सामान्य और विशेष**—यह सृष्टि का एक ऐसा नियम है जिससे कि अनेक में एक तत्व का ज्ञान होता है। द्रव्य, गुण और कर्म तो इन्द्रिय के विषय हैं जिनको हम देख सकते हैं या विभिन्न इन्द्रियों की

सहायता से अनुभव कर सकते हैं। पर सामान्य और विशेष इन्द्रियों के विषय नहीं। ये बुद्धि से सम्बन्धित हैं और इनकी सहायता से विभिन्न प्रकार के पदार्थों का समानता और असमानता के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं या उनकी श्रेणियाँ बना सकते हैं। जो श्रेणी किसी विशेष श्रेणी का भाग है उसे विशेष कहेंगे और जिस श्रेणी के अन्तर्गत वह आती है वह सामान्य है। सामान्य भी दो प्रकार का माना गया है—पर और अपर।

**समवाय**—यह न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त वालों की निजी कल्पना है जो अन्य किसी दर्शन और शास्त्रीय विवेचन में नहीं पाई जाती इसका आशय किन्हीं दो वस्तुओं में पाये जाने वाले ऐसे सम्बन्धों से है जो अमिट और सदैव स्थायी (नित्य) हों। उदाहरण के लिए हम कटोरे में दाल खा रहे हैं। उस समय कटोरे और दाल का सम्बन्ध अवश्य है। पर ज्योंही हमने भोजन समाप्त करके कटोरे को धोकर रख दिया कि उसी समय वह सम्बन्ध मिट जाता है। पर एक सम्बन्ध ऐसा होता है कि जैसे सूत वस्त्र का सम्बन्ध। यह अमिट सम्बन्ध है और तभी मिट सकता है जब कि वस्त्र नष्ट होकर न तागा रहे न कपड़ा रहे। इसी प्रकार का सम्बन्ध वायु और उसकी गति में है। जहाँ वायु रहेगी वहाँ उसकी गति किसी न किसी रूप में रहेगी।

**द्रव्य का स्वरूप—**

सृष्टि के सब कार्य कुछ मूल पदार्थों से चल रहे हैं। हम साधारण रूप से इस जगत् को पंचतत्वों की रचना कहकर इसी को सृष्टि विज्ञान का सार समझ लेते हैं, पर इससे कोई लाभ नहीं होता। ज्ञान का उद्देश्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझना और उसका उचित उपयोग करना ही हो सकता है। इस प्रकार का ज्ञान ही संसार में सुख का कारण है और इसके विपरीत अज्ञान दुःख उत्पन्न करने वाला है। यदि

हम अकेले अकस्मात् किसी ऐसे गोदाम में पहुँच जायें जहाँ आटा, दाल, चावल, घी, तेल, गुड़, नमक, मसाला, ईंधन आदि भरा हुआ हो, तो जानकार व्यक्ति तो उनमें से आवश्यकतानुसार चीजें लेकर उनमें किसी प्रकार का उत्तम भोज्य पदार्थ बनाकर अपनी भूख को मिटा लेगा। पर यदि कोई अनजान बालक या बुद्धिहीन पागल व्यक्ति उस गोदाम को पा जाये तो सब कुछ होने पर भी वह भूखा ही मरता रहेगा या किसी भी पदार्थ को यों ही उल्टा सीधा खाकर पेट में कष्ट उत्पन्न कर लेगा। इसी प्रकार संसार में जो मनुष्य इसके पदार्थों के स्वरूप, गुण और कर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह अपने जीवन को सफल और सुखी बनाकर अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है पर जो सांसारिक पदार्थोंके रूप, स्वभाव, गुणों को समझे बिना उनका अटकल पच्चू व्यवहार करता है उसका जीवन दुःखों में हाय-हाय करने में ही व्यतीत होता है।

वैशेषिक दर्शन का मूल उद्देश्य यही है कि मनुष्य इस संसार में आकर इसके पदार्थों के रूप, स्वभाव, गुण धर्म को ठीक-ठीक समझकर उनका व्यवहार इस प्रकार करे कि उसे इस लोक में सुख प्राप्त हो और परलोक में मोक्ष का आनन्द मिल सके। यदि इसके विपरीत कोई पदार्थों के वास्तविक रूप और गुण को न समझकर गलत व्यवहार करेगा तो सब कुछ प्राप्त होने पर भी और जन्म भर परिश्रम करने पर भी उसे सुख न मिल सकेगा और वह इधर-उधर भटकता हुआ अन्त में कष्टों की अवस्था में ही जीवन को समाप्त कर देगा अनेक विद्वान् सांसारिक विषयों के बजाय आध्यात्मिक-आत्मा और परमात्मा के स्वरूप की शिक्षा देना ही महत्वपूर्ण बतलाते हैं पर इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य लौकिक जीवनमें असफल बना रहकर पराश्रित रहता है और आत्मोत्थानकी बातें करने पर भी उनको कार्य रूप में परिणत करने में असमर्थ रहता है। इसलिए महर्षि कणाद का मत है कि मनुष्य को पहले संसार और उसके मूल पदार्थों का यथार्थं ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, तदनुकूल युक्तियुक्त

व्यवहार करना चाहिए। ऐसा होने से निःश्रेयस' (आत्म कल्याण) की प्राप्ति उसे निश्चित रूप से हो जायेगी, क्योंकि पदार्थों के वास्तविक रूप को जान लेने पर वह गलत मार्ग पर नहीं चलेगा और स्वाभाविक रूप से अपने सच्चे लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जायगा।

वैशेषिक के १।१।१५ सूत्र में द्रव्य का रूह बतलाते हुए कहा है कि "जिसमें क्रिया और गुण हों तथा जो समवायी कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। इसका आशय यह है कि द्रव्य और गुण का स्थायी (समवाय) सम्बन्ध है। द्रव्य आशय है और गुण तथा कर्म उस पर आश्रित हैं। उदाहरण के लिए यदि हमको मीठा या खठ्ठा खाने की इच्छा हो और बाजार में जाकर कहें कि हमको चार आने की 'मिठास' 'खटास' दे दो तो वह न तो हमारा आशय समझेगा और न उसकी पूर्ति कर सकेगा वह यही कहेगा कि 'मिठास' कोई पृथक् चीज नहीं है वरन् उसे किसी द्रव्य—जैसे चीनी, बूरा, बतासा, गुड़ आदि में पाया जा सकता है, इनमें से जो चीज पसन्द हो वह दी जा सकती है। यही बात क्रिया के सम्बन्ध में भी है। वह भी किसी पदार्थ या प्राणी के माध्यम से ही देखी जा सकती हैं, जैसे घोड़ा दौड़ता है, पत्थर गिरता है, पतंग उड़ती है। पर यदि हम क्रियाओं को बिना किसी पदार्थ के माध्यम के स्वतन्त्र देखना या समझना चाहें तो यह सम्भव नहीं है।

वैशेषिक में नौ द्रव्य माने गये हैं जिनमें से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तो प्रसिद्ध ही है। संसार का प्रत्येक स्थूल पदार्थ इन्हीं के न्यूनाधिक सम्मिश्रण से बना है। इनको 'प्राकृत' कहा जा सकता है क्योंकि प्रकृति की समग्र लीला और सृष्टि रचना इन्हीं के द्वारा होती है और ये ही मूल प्रकृति से समय-समय पर प्रकट और लुप्त होते रहते हैं। इन पाँच के अतिरिक्त काल और देश दो द्रव्य ऐसे हैं जो यद्यपि प्रकृति की तरह ही अचेतन हैं पर उसके अङ्ग नहीं हैं। प्रकृति किसी अवस्था

में रहे पर उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। शेष दो द्रव्य—आत्मा और मन चेतन हैं, जो अचेतन द्रव्यों का उपभोग करते हैं और जिनके लिए प्रकृति, द्रव्यों में तरह-तरह के परिवर्तन करके नये-नये कार्य पदार्थ बनाती रहती है।

**प्राकृत द्रव्य**—प्राकृत द्रव्यों की जो सूची वैशेषिक में दी गयी है, वह सर्वमान्य है। प्रत्येक दर्शन, धार्मिक सम्प्रदाय तथा विज्ञान ने भी इन पंच महाभूतों की सत्ता स्वीकार की है और प्रत्येक का एक-एक पृथक् गुण माना है। कुछ लोग यह शंका उठाया करते हैं कि क्या एक द्रव्य में एक में से अधिक मौलिक गुण हो सकता है? अथवा एक ही मौलिक गुण क्या एक से अधिक द्रव्यों में पाया जा सकता है? वैशेषिक इससे इनकार करता है। उसमें बताया गया है कि प्रत्येक प्राकृतिक द्रव्य एकाएक ही विशेष गुण होता है, यदि किसी द्रव्य में एक से अधिक गुण पाया जाता है तो वह दूसरे द्रव्यों के योग से प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम तत्व आकाश है जो सबसे सूक्ष्म है। उसका गुण शब्द है जो और किसी द्रव्य में सम्मिलित नहीं हो सकता। इसी से वैशेषिक ने आकाश की गणना अन्य चार तत्वों से अलग की है और सांसारिक पदार्थों को पाँच के बजाय चार महाभूतों का ही संयोग-वियोग माना है।

दूसरा द्रव्य जो आकाश की अपेक्षा कम सूक्ष्म है, वायु है। इसका गुण स्पर्श माना गया है। तीसरा अग्नि है जिसका गुण रूप है। इसका वायु की अपेक्षा स्थूल होने से जिसमें वायु का गुण स्पर्श भी पाया जाता है। चौथा जल है जिसका गुण रस है और स्थूलता के कारण जिसमें रूप और स्पर्श भी पाये जाते हैं। पाँचवाँ पृथ्वी तत्व मिट्टी, पत्थर और धातुओं के रूप हैं सबसे अधिक स्थूल है और उसमें अपने विशेष गुण वन्ध के अतिरिक्त शेष तीनों तत्वों के गुण स्पर्श, रूप और रस भी पाये जाते हैं।

प्रत्येक तत्व का एक-एक गुण अलग-अलग है इसे पश्चिमी-

दार्शनिक और वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वरन् पश्चिम के ही एक प्रमुख वैज्ञानिक ने प्रत्यक्ष प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिखाया कि वास्तव में शब्द आकाश का गुण है और वह आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त होने की सामर्थ्य रखता है। अब से ४०-५० वर्ष पहले इटली निवासी मारकोनी ने यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखाया कि शब्द भी प्रकाश की तरह एक सैकिण्ड में १,८६,००० मील चलता है और यदि उपयुक्त यन्त्र द्वारा उसे ग्रहण किया जाय तो वह संसार के किसी भी स्थान में सुना जा सकता है। इसी आविष्कार के आधार पर रेडियो का निर्माण हुआ है जिससे हम बटन दबाते ही दस हजार मील की दूरी का शब्द लेते हैं।

**काल और देश**—काल और समय में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष भेद नहीं। जिस प्रकार दिन-रात के २४ घण्टे कल के थे, वैसे ही आज के हैं और वैसे ही आगामी कल के होंगे। यदि हम कैलेन्डर और पञ्चागों से दिनों की गिनती न करें अथवा विशेष घटनाओं के सम्बन्ध से उनकी याद न रखें तो यह किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि पीछे और आगे के समय में कोई भेद है। पर लोक व्यवहार की दृष्टि से समय को सैकिंड, मिनट, घण्टा, दिन, सप्ताह, महीना, वर्ष आदि में विभाजित कर देते हैं जिससे हमको किन्हीं दो घटनाओं के बीच का ठीक अन्तर मालूम हो सके और अपने विभिन्न कार्यों को उपयुक्त समय पर सम्पन्न कर सकें। आदिम अवस्था में मनुष्य को काल-गणना का कोई ज्ञान न था और सब दिन तथा सब समय एक से ही थे। काल अनन्त है और कभी इसका नाश नहीं होता इससे यह अविनाशी है।

देश अथवा दिशा भी काल की तरह नित्य और अविनाशी है, पर जहाँ काल अपरिवर्तनीय है' अर्थात् भूत-काल सदा भूत-काल ही रहेगा और भविष्य सदैव भविष्य कहा जायगा, वहाँ देश में बराबर अन्तर पड़ता रहता है। यदि दिल्ली में खड़े होकर इलाहाबाद को अपने

से पूर्व की ओर समझेंगे तो कलकत्ता में खड़े होने पर ही इलाहाबाद हमको पश्चिम में जान पड़ेगा। इतना ही नहीं यदि हम पृथ्वी-परिक्रमा के लिये रवाना हों और सूरज को देखकर पूरब की ओर चलते जायें तो हम पूरब की ओर चलते-चलते भी एक दिन वहीं आ पहुँचेंगे जहाँ से चले थे और जिससे पीछे के स्थान को जिसे हम पश्चिम दिशा कहते और मानते हैं। इसीलिए वैशेषिक में कहा गया है कि वास्तव में दिशा कुछ भी नहीं है। मनुष्य जहाँ स्थित हो वहीं पर अपने आगे-पीछे दाँये-बाँये ऊपर नीचे भिन्न-भिन्न दिशाओं की कल्पना कर लेता है। अन्यथा समस्त देश या स्थान एक ही है और उसमें कोई भी दिशा वास्तविक नहीं है।

**आत्मा और मन**—चेतन द्रव्यों में आत्मा और मन की गिनती की गई है। मन को तो अन्य दर्शनकारों ने भी ग्यारहवीं इन्द्रिय माना है पर वैशेषिक आत्मा को भी द्रव्य मानता है, यह उसकी विशेषता है। इसके मतानुसार हम सब तरह का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते हैं और ज्ञान का आश्रम आत्मा है। आत्मा ही मन के द्वारा समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान को ग्रहण करता हैं और उसे फिर काम में लाता है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, आँखें बन्द करना, खोलना ये सब आत्मा के लक्षण हैं। किसी अचेतन द्रव्य में इच्छा द्वेष आदि का अस्तित्व दिखलाई नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त 'अहं भावं' (मैं) भी किसी इन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता इससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक शरीर में एक ही आत्मा नहीं है। इसका समाधान करते हुए उसमें बताया गया है 'कि आत्मा को एक नहीं माना जा सकता है। यदि सब शरीरों में एक ही आत्मा होता तो सब का जन्म एक होता और मरण भी साथ ही होता। तब एक अन्धा होता तो सभी अन्धे हो जाते और एक के भोजन कर

लेने से सबका पेट भी भर जाता। तब कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, कोई सुखी, कोई दु:खी दिखलाई नहीं पड़ता। अनेक अध्यात्मवादी आत्मा को द्रव्य रूप नहीं शुद्ध चेतन रूप मानते हैं। वैशेषिक इसे अस्वीकार करके आत्मा को एक नित्य द्रव्य मानता है। इसके मतानुसार आत्माओं की संख्या अनन्त है और जो आत्माएँ मुक्त हो जाती हैं वे भी प्रलय के पश्चात् नवीन सृष्टि के अवसर पर लौट आती हैं। इससे संसार में कभी आत्माओं की कमी का प्रश्न नहीं उठता।

आत्मा के सम्बन्ध में वैशेषिक का मत बहुत स्पष्ट और दृढ़ हैं। वह आत्माओं एक द्रव्य रूप में मानता है, पर वह प्रयत्न करके मोक्ष की अधिकारी बनकर सच्चा सुख प्राप्त कर सकती है। नौवें अध्याय में लिखा है कि 'आत्मान्यात्स मनस: संयोग विशेषादात्म प्रत्यक्षम्' अर्थात् "जीवात्मा जब अपने मन को वशीभूत करके योग विधि से आत्मा का ध्यान करता है, तो उसे अपना स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है।' आत्मा विषयक इस सुदृढ़ मान्यता के कारण हम उन लोगों के मत से असहमत हैं जो वैशेषिक में ईश्वर सम्बन्धी विशेष विवेचना न देखकर उसे अनीश्वरवादी घोषित करने लगते हैं। ईश्वर के स्वरूप और उनके कार्य के विषय में तो आज तक सभी महान् विचारकों ने अपनी असमर्थता प्रकट की है और सब कुछ कहने के पश्चात् भी अन्त में 'नेति-नेति' ही कह दिया है। पर जो आत्मा की सत्ता में विश्वास रखता है और शुभाशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप उसकी सद्गति अथवा दुर्गति के सिद्धान्त को पूर्णत: मानता है, उसे कदापि अनीश्वरवादी अथवा नास्तिक नहीं कहा जा सकता। नास्तिक तो वही है जो अपने पर विश्वास नहीं रखता। वैशेषिक ने आत्मा को नित्य और अविनाशी माना है। साथ ही उसने उसके दो रूप भी बतलाये हैं—क्षेत्रज्ञ और सर्वज्ञ। इन्हीं को अन्य सिद्धान्तवादी जीवात्मा और परमात्मा के नाम से पुकारते हैं। प्रलय हो जाने पर प्रत्येक तत्व परमाणु रूप में स्थित होता है और जड़ होने के कारण स्वयं पुन: सृष्टि-रचना कार्यारम्भ करने में असमर्थ

होता हैं तो सर्वत्र आत्मा ही उसे 'क्रिया आरम्भ' करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार वैशेषिक ने आत्म तत्व को ही जगत् का अधिष्ठाता माना है।

मन भी एक चेतन तत्व है, पर यह अविनाशी नहीं है। मन ज्ञान को प्राप्त करने का साधन है, पर उसे स्वयं ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि में मन, आत्मा और बाह्य जगत् का सम्बन्ध कराने वाला एक उपकरण या साधन है, सू० ३।२।१ में कहा है कि आत्मा की आज्ञा से इन्द्रियों के विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी एक समय में एक प्रकार का ज्ञान होना और अन्य प्रकार का ज्ञान न होना मन का लिङ्ग (लक्षण) है।" मन को 'अणु' माना गया है जबकि 'आत्मा' 'विभु' कही गई है। इसका आशय यही है कि आत्मा सर्वव्यापी तत्व है जबकि मन एकदशीय है और एक समय में एक ही प्रकार दो ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

## गुणों का स्वरूप—

द्रव्य और गुण सापेक्ष विषय हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का कोई अर्थ नहीं रहता। द्रव्य और गुण सदा एक साथ रहते हैं जिनमें द्रव्य को प्रधान और गुण को गौण माना जाता है। सूत्र १।१।१६ में गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

**द्रव्याश्रयगुणवान्संयोग विभागेष्वकारणमनपेक्ष इतिः गुण लक्षणम्।**

अर्थात् "गुण सदैव किसी द्रव्य के आश्रित रहता है। एक गुण में और कोई अन्य गुण नहीं होता। वह संयोग-वियोग का उत्पादक नहीं होता, अर्थात् वह बाह्य जगत् की घटनाओं पर कोई प्रभाव नहीं डालता और किसी अन्य गुण की अपेक्षा भी नहीं रखता।"

लेने से सबका पेट भी भर जाता। तब कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, कोई सुखी, कोई दुःखी दिखलाई नहीं पड़ता। अनेक अध्यात्मवादी आत्मा को द्रव्य रूप नहीं शुद्ध चेतन रूप मानते हैं। वैशेषिक इसे अस्वीकार करके आत्मा को एक नित्य द्रव्य मानता है। इसके मतानुसार आत्माओं की संख्या अनन्त है और जो आत्माएं मुक्त हो जाती हैं वे भी प्रलय के पश्चात् नवीन सृष्टि के अवसर पर लौट आती हैं। इससे संसार में कभी आत्माओं की कमी का प्रश्न नहीं उठता।

आत्मा के सम्बन्ध में वैशेषिक का मत बहुत स्पष्ट और दृढ़ हैं। वह आत्माओं एक द्रव्य रूप में मानता है, पर वह प्रयत्न करके मोक्ष की अधिकारी बनकर सच्चा सुख प्राप्त कर सकती है। नौवें अध्याय में लिखा है कि 'आत्मान्यात्म मनसः सयोग विशेषादात्म प्रत्यक्षम्' अर्थात् "जीवात्मा जब अपने मन को वशीभूत करके योग विधि से आत्मा का ध्यान करता है, तो उसे अपना स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है।' आत्मा विषयक इस सुदृढ़ मान्यता के कारण हम उन लोगों के मत से असहमत हैं जो वैशेषिक में ईश्वर सम्बन्धी विशेष विवेचना न देखकर उसे अनीश्वरवादी घोषित करने लगते हैं। ईश्वर के स्वरूप और उनके कार्य के विषय में तो आज तक सभी महान् विचारकों ने अपनी असमर्थता प्रकट की है और सब कुछ कहने के पश्चात् भी अन्त में 'नेति-नेति' ही कह दिया है। पर जो आत्मा की सत्ता में विश्वास रखता है और शुभाशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप उसकी सद्गति अथवा दुर्गति के सिद्धान्त को पूर्णतः मानता है, उसे कदापि अनीश्वरवादी अथवा नास्तिक नहीं कहा जा सकता। नास्तिक तो वही है जो अपने पर विश्वास नहीं रखता। वैशेषिक ने आत्मा को नित्य और अविनाशी माना है। साथ ही उसने उसके दो रूप भी बतलाये हैं—क्षेत्रज्ञ और सर्वज्ञ। इन्हीं को अन्य सिद्धान्तवादी जीवात्मा और परमात्मा के नाम से पुकारते हैं। प्रलय हो जाने पर प्रत्येक तत्व परमाणु रूप में स्थित होता है और जड़ होने के कारण स्वयं पुनः सृष्टि-रचना कार्यारम्भ करने में असमर्थ

होता है तो सर्वत्र आत्मा ही उसे 'क्रिया आरम्भ' करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार वैशेषिक ने आत्म तत्व को ही जगत् का अधिष्ठाता माना है।

मन भी एक चेतन तत्व है, पर यह अविनाशी नहीं है। मन ज्ञान को प्राप्त करने का साधन है, पर उसे स्वयं ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि में मन, आत्मा और बाह्य जगत् का सम्बन्ध कराने वाला एक उपकरण या साधन है, सू० ३।२।१ में कहा है कि आत्मा की आज्ञा से इन्द्रियों के विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी एक समय में एक प्रकार का ज्ञान होना और अन्य प्रकार का ज्ञान न होना मन का लिङ्ग (लक्षण) है।" मन को 'अणु' माना गया है जबकि 'आत्मा' 'विभु' कही गई है। इसका आशय यही है कि आत्मा सर्वव्यापी तत्व है जबकि मन एकदशीय है और एक समय में एक ही प्रकार दो ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

## गुणों का स्वरूप–

द्रव्य और गुण सापेक्ष विषय हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का कोई अर्थ नहीं रहता। द्रव्य और गुण सदा एक साथ रहते हैं जिनमें द्रव्य को प्रधान और गुण को गौण माना जाता है। सूत्र १।१।१६ में गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है–

द्रव्याश्रयगुणवान्संयोग विभागेष्वकारणमनपेक्ष इतिः
गुण लक्षणम्।

अर्थात् "गुण सदैव किसी द्रव्य के आश्रित रहता है। एक गुण में और कोई अन्य गुण नहीं होता। वह संयोग-वियोग का उत्पादक नहीं होता, अर्थात् वह बाह्य जगत् की घटनाओं पर कोई प्रभाव नहीं डालता और किसी अन्य गुण की अपेक्षा भी नहीं रखता।"

गुणों की संख्या चौबीस है, यद्यपि सूत्र १।१।१६ में सत्तरह के नाम ही दिये गये हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, दूरी, समीपता, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। पर सूत्र के अन्त में 'च' (अन्य भी) कह दिया है जिसके आधार पर दर्शन के प्रमुख भाष्यकार प्रशस्तपाद ने गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये सात और मिलाकर चौबीस की संख्या पूरी कर दी है। इन गुणों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **रूप**—लाल, नीला, पीला, सफेद, काला आदि अनेक रङ्ग नेत्रों से दिखाई पड़ते हैं। यह मुख्य रूप से अग्नि-तत्व का लक्षण है। जैसे पृथ्वी और जल में भी पाया जाता है।

(२) **रस**—मीठा, नमकीन, खट्टी, चरपरा, कड़वा, कषैला ये छः रस मुख्य माने गये हैं, जिनका ज्ञान जिह्वा इन्द्रिय से होता है। यह मुख्य रूप से जल तत्व के आश्रित हैं। वैसे पृथ्वी तत्व में भी पाया जाता है।

(३) **गन्ध**—यह पृथिवी तत्व का गुण है। इसके सुगन्ध तथा दुर्गन्ध के दो भेद हो सकते हैं। इसको घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है।

(४) **स्पर्श**—यह मुख्य रूप से वायु-तत्व का गुण है। वैसे पृथ्वी जल और अग्नि तत्व में भी पाया जाता है।

(५) **संख्या**—यह एक या अनेक द्रव्यों से सम्बन्धित होती है। जिससे उनकी गिनती मालूम हो सकती है। 'एकत्व' संख्या नित्य पदार्थों में नित्य मानी जाती है, पर दो, तीन या चार की संख्या अनित्य होती है। ज्योंही उन पदार्थों की संख्या घट-बढ़ जाती है त्योंही पहली संख्या लुप्त हो जाती है। संख्या नित्य, अनित्य, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष सभी द्रव्यों में रहती है।

(६) **परिमाण**—पदार्थों की अधिकता, अल्पता और दीर्घता अथवा ह्रस्वता की दृष्टि से परिमाण का कथन किया जाता है। यह अपेक्षा से कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु अपनी से बड़ी वस्तु की तुलना में अल्प अथवा छोटी है। यह व्यवहार की दृष्टि से नित्य-अनित्य सभी पदार्थों के लिए कहा जाता है।

(७) **पृथक्त्व**—इसके द्वारा भिन्न-भिन्न वस्तुओं के स्वभाव में जो पृथक्ता होती है उसका बोध होता है। इस पृथक्ता का आशय केवल बुद्धिगत और निषेधात्मक पृथक्ता से नहीं कि अमुक चीजें एक दूसरे में पृथक् हैं, वरन् उससे दोनों में जो वास्तविक पृथक्ता होती है उसका ज्ञान होता है।

(८) **संयोग**—दो अलग-अलग वस्तुएँ जब मिल जाती है तो उसे संयोग कहते हैं। वैशेषिक में इसे तीन प्रकार माना है—अन्यतर कर्मज, उभयकर्मज और संयोग। संयोग कभी नित्य नहीं होता, क्योंकि जो परिस्थितिवश संयोग को प्राप्त होगा तो किसी समय उसका वियोग भी होगा।

(९) **विभाग**—संयोग विरुद्ध गुण विभाग है और यह भी संयोग की तरह तीन प्रकार का माना गया है। इसका आशय दो वस्तुओं में संयोग का अभाव होना ही नहीं है, वरन् दो मिली हुई वस्तुओं का अलग हो जाना है।

(१०+११) परत्व और अपरत्व या दूर और समीप जिस गुण द्वारा आगे का ज्ञान होता है वह परत्व और जिससे पीछे का ज्ञान होता है वह अपरत्व है। ये चारों पृथ्वी आदि चारों तत्वों और मन के गुण हैं। ये देश और काल के सम्बन्ध से होते हैं। काल की दृष्टि से कहा जाता है कि "यह छोटा है" यह बड़ा है और देश की निगाह से हम कहते हैं कि "वह दूर है" अथवा "वह निकट है।" ये गुण अनित्य हैं

और अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होते हैं, जिससे बराबर बनते बिगड़ते या बदलते रहते हैं।

(१२) **गुरुत्व**—इसका अर्थ है नीचे गिरने का गुण। जैसे पृथ्वी (पार्थिव वस्तुएँ) तथा जल नीचे गिरते हैं। यह गुण नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में होता है।

(१३) **द्रवत्व**—बहने या सरकने के गुण का नाम द्रवत्व है। यह दो प्रकार का होता है। एक स्वाभाविक जैसे जल का स्वभाव बहते रहने का है। दूसरा नैमित्तिक, जैसे घी जमा होता है तो स्थिर रहता है, पर अग्नि के संयोग से तरल होकर बहने लगता है।

(१४) **स्नेह**—चूरा हो जाने वाली वस्तु को पिण्डाकार बनाये रखने वाले गुण को स्नेह कहते हैं। यह जल में मुख्यतया पाया जाता है।

(१५) **शब्द**—यह एक मात्र आकाश का गुण है। यह कर्णेन्द्रिय से ग्राह्य है। यह दो प्रकार का होता है। ध्वनि-स्वरूप जैसे ढोल मृदङ्ग आदि का शब्द और वर्ण-स्वरूप जिसमें अर्थ सहित शब्दों का उच्चारण होता है जैसे मनुष्यों की बात-चीत।

(१६) **बुद्धि**—इसका अर्थ है ज्ञान जो जीवात्मा का गुण है। कभी यह नये अनुभव के रूप में प्रकट होता है और कभी पुराने अनुभव की स्मृति के रूप में। अनुभव भी यथार्थ और अयथार्थ रूप से दो प्रकार का होता है यद्यपि जीवात्मा के संयोग से बुद्धि चेतन जान पड़ती है पर वास्तव में यह एक प्राकृतिक शक्ति है और इसलिए जड़ है। इस जड़ होने के कारण ही यह ज्ञान और अज्ञान दोनों को ग्रहण करती है और सबका निर्णय जीवात्मा करता है। बुद्धि द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसके तीन भेद प्रत्यक्ष, अनुभव और आगम प्रमाण माने गये हैं। और अयथार्थ ज्ञान के संशय और विपर्यय दो भेद बतलाये गये हैं।

'जीवात्मा जब अपने मन को वशीभूत करके योग की विधि से आत्मा का ध्यान करता है तो उसे अपना स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

(१७) सुख—हर एक अनुकूल गुण को सुख कहते हैं। वह अतीत विषयों की स्मृति से और आगामी सुखो के संकल्प से उत्पन्न होता है। यह मुख और नेत्रों की आकृति में परिवर्तन होने से प्रकट हो जाता है। सुख की इच्छा स्वाधीन है और वह केवल सुख से ही निमित्त होती है।

(१८) दुःख—यह सदैव प्रतिकूलता के भाव से उत्पन्न होता है। इसका वियोग और अभीष्ट का प्राप्त होना ही इसका कारण होता है। वह भी अतीत विषयों में स्मृति-जन्य और अनागत विषयों में संकल्प-जन्य होता है। यह भी मुख के भाव द्वारा प्रकट हो जाता है।

(१९) इच्छा—अपने लिए या दूसरों के लिये किसी अप्राप्त वस्तु की चाहना इच्छा कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है—फल की इच्छा और उपाय की इच्छा। कामना, अभिलाषा, संकल्प आदि इसी के भेद हैं।

(२०) द्वेष—हृदय में किसी से जलन होना द्वेष कहा जाता है। यह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का हेतु होता है। धर्म और अधर्म का हेतु इस प्रकार से कि यदि किसी दुष्ट से द्वेष होगा तो उसके विपरीत श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्ति होगी और सज्जन से द्वेष होगा तो उसके विरोध स्वरूप अधर्म कर्मों मे प्रवृत्ति होगी। क्रोध, मोह, मन्यु, अमर्ष आदि इसके भेद हैं।

(२१) प्रयत्न—उत्साह और उद्योग का भाव 'प्रयत्न' कहलाता है। यह भी मन और आत्मा का गुण है। यह एक तो शारीरिक क्रियाओं को चलाने के लिये अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा स्वयमेव होती है और दूसरा हितकारी बाह्य साधनों की प्राप्ति तथा अहितकारी साधनों के त्याग के रूप में इच्छा पूर्वक होता है।

(२२) धर्म-अधर्म—श्रुति-स्मृति में बतलाये सत्कर्मों का नाम धर्म है और उससे विपरीत कर्मों का नाम अधर्म होता है। ये संस्कार

रूप अदृश्य कर्मों के उत्पन्न करने वाले होते हैं और इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में वैसा ही फल देते हैं।

(१४) संस्कार—प्रथम संस्कार 'वेग' कहा गया है जो पृथ्वी, जल अग्नि वायु चारों तत्वों और मन में रहता है और आगामी कर्मों का हेतु होता है। दूसरा भावना, है जो पूर्व अनुभव याद आ जाने से चित्त में पैदा होता है। यही अनेक प्रकार की वासनाओं का कारण होता है। विद्या, शिल्प, व्यायाम आदि भी बार-बार अभ्यास करके निपुणता प्राप्त होने का कारण भावना-संस्कार ही होता है। तीसरा 'स्थित स्थापक' है जिसके प्रभाव से छोड़ी हुई स्थिति फिर से उत्पन्न हो जाती है। इसको लचीलापन भी कह सकते हैं, जैसे रबड़ खींचकर जोड़ देने पर फिर पुरानी स्थिति में आ जाती है, अथवा हरे पेड़ की डाली झुकाकर छोड़ देने पर फिर पूर्ववत् हो जाती है।

जैसा कहा जा चुका है गुण पृथक् वस्तु नहीं है वरन् द्रव्यों के आश्रय में ही पाये जाते हैं। एक एक द्रव्य में कई प्रकार के गुण पाये जाते हैं, सबसे अधिक गुण पृथ्वी और जल में होते हैं जिनकी संख्या १४ है। अग्नि में ११ वायु में ८ और आकाश में ६ गुण बतलाये गये हैं। काल और दिशा में ५-५ गुण होते हैं। चेतन द्रव्यों में से जीवात्मा में १४ और मन में ८ गुण होते हैं।

## कर्म के पांच भेद—

द्रव्य में गुणों के अतिरिक्त कर्म का अस्तित्व भी है। बिना द्रव्य के कोई कर्म नहीं हो सकता। पर गुण और कर्म में यह अन्तर है कि गुण द्रव्य का स्वाभाविक धर्म है जो उसमें सदैव उपस्थित रहता है, परन्तु कर्म प्रयत्न पूर्वक कुछ समय के लिए प्रकट होता है। पांच कर्म उत्क्षेण, अवक्षेपण, आकुंचन प्रसारण और गमन के रूप में होते हैं। इनके कारण और स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) नोदन—किसी वस्तु को ढकेलना, जैसे कीचड़ में पैर डालने

से वह हिलकर इधर-उधर होता है। (२) गुरुत्व---भारीपन, जिसके कारण कोई भी पदार्थ नीचे गिरता है। (३) वेग---वस्तु दूर फेंकी जाती है जैसे धनुष को खींचने से वाण दूर तक जाता है। (४) प्रयत्न-कोई भी क्रिया करते समय शारीरिक अङ्ग उठते या गिरते हैं, वह प्रयत्न कहा जाता है।

इन समस्त प्रयत्नों में मनुष्य के कर्म पुण्य और पाप रूप संस्कार उत्पन्न करने वाले होते हैं। अन्य महाभूतों (जल, अग्नि वायु आदि) के कर्मों से पाप-पुण्य उत्पन्न नहीं होते क्योंकि वे अचेतन होते हैं।

कर्म में चेतना और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यों तो सोते समय भी हमारा हृदय, फेफड़ा आमाशय काम करते रहते हैं। प्राण भी समस्त शरीर में चलता रहता है, पर उसका नाम कर्म नहीं होता। वह एक स्वभाव या घटना है। कर्म आत्मा और मन की प्रेरणा से होता है और ज्ञान तथा संकल्प भी दिखाई पड़ते हैं।

**धर्म रूपी कर्म**—वैशेषिक ने भौतिक कर्मों के सिवाय धर्म रूपी कर्मों का वर्णन किया है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा मनुष्य के चरम लक्ष्य 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' की प्राप्ति होती है, जिसका उल्लेख ग्रन्थ को आरम्भ करते ही दूसरे सूत्र में किया गया है। पर वैशेषिक ने केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय के कर्म ही बतलाये हैं, क्योंकि उस जमाने में ये दो वर्ण ही ज्ञान के अधिकारी और तदनुसार व्यवहार करने वाले थे। मनुष्यों का जीवन कार्य प्राकृतिक रूप से यन्त्रवत् चलता रहता था। महर्षि कणाद ने ब्राह्मण का कर्म दान लेना बतलाया है और किसी को दान लेने का अधिकारी नहीं। पर इस प्रकार का दान वर्तमान समय की तरह भिक्षा या निकम्मे रहकर उदर पोषण के रूप में न था। सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि दान को बुद्धिपूर्वक देना और लेना चाहिये। ब्राह्मण [illegible]र समस्त समाजको शिक्षित करने, विद्या पढ़ाने का उत्तरदायित्व था। [illegible] निस्पृह भाव से जनता को विद्या-दान करते थे और समाज उनके

ऋण का चुकाने के लिये उन्हें द्रव्य दान देना था। इसलिये उस समय का दान किसी प्रकार की दया या शिक्षा न थी बरन् एक 'ऋण' को चुकाना था। फिर ब्राह्मण इस प्रकार मिले हुये दान को अपने लिये ही नहीं रख लेते थे। वे उससे अनाथ, असमर्थ और दीन हीनों की सहायता भी करते थे। कितने ही त्यागी ब्राह्मण तो उस दान को अपने लिये विल्कुल ही काम में नहीं लाते थे और स्वयं खेतों में गिरे हुये दानों को बीनकर उसी से अपना काम चलाते थे। सम्भवत: वैशेषिक के सूत्रकार महर्षि कणाद स्वयं ऐसे ही महान् त्यागी महापुरुष थे और इसी से उनका नाम 'कणभक्' या 'कणभक्ष' भी प्रसिद्ध है।

ब्राह्मणों के लिये शुद्ध आहार पर भी बहुत जोर दिया गया है। सूत्र ६-१-६ में कहा है, 'तद् दुष्ट भोजने न विद्यते' अर्थात् दान का श्रेष्ठ फल भोजन के दुष्ट होने से नष्ट हो जाता है।' आठवें सूत्र में कहा गया है कि 'दूषित भोजन कराने से खाने और खिलाने वाले दोनों को दोष लगता है।'

क्षत्रिय का कर्त्तव्य धर्म रक्षार्थ युद्ध करना है। पर उसे धर्म युद्ध तभी कहा जायगा कि युद्ध करते हुये भी सदाचार और नीति के नियमों को न त्यागा जाय। जैसे किसी निर्बल या असमर्थ पर आक्रमण करना अनुचित है। यदि अपनी समानता वाला युद्ध के लिये ललकारे तो कभी पैर पीछे न हटाये। यदि अपने से अधिक बलवान भी अन्यायपूर्वक आक्रमण करदे तो भयभीत न हो और चाहे प्राण चले जायें पर युद्ध से पराङ्मुख न हो। युद्ध के अवसर पर क्षत्रिय के लिये नित्य नैमित्तिक कर्मों को करना आवश्यक नहीं है पर आहार की शुद्धता उस समय भी ध्यान रखना आवश्यक है। अशुद्ध आहार मति को भ्रष्ट कर देता है जिसके परिणाम आगे-पीछे अनिष्टकारी ही सिद्ध होते हैं।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थों पर विशेष ध्यान दिया गया है और इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की है शे

तीन पदार्थ—सामान्य, विशेष, और समवाय केवल भाव-रूप हैं और उनका आधार बुद्धि की अपेक्षा से होता है।

## सामान्य और विशेष—

सामान्य का अर्थ है मामूली। इसका आशय यह है कि जब हम इस प्रकार की वस्तुओं को बिना विशेषता का ध्यान किये एक श्रेणी में रखते हैं तो वह सामान्य होता है। जैसे बहुसंख्यक घड़ों में हम प्रत्येक को 'घट' के नाम से पुकारते हैं, चाहे वे छोटे-बड़े, सस्ते-मंहगे, सुन्दर असुन्दर कैसे भी हों। उन सबके भीतर जो एक 'घटत्व' का लक्षण है वही 'सामान्य है इसे तीन प्रकार का माना गया है। एक पर सामान्य दूसरा अपर-सामान्य है और तीसरा परात्पर सामान्य। सबसे अधिक व्यक्तियों या स्थान में जो जाति पाई जाय वह पर सामान्य है। जैसे वृक्ष कहने से संसार भर के सब प्रकार के वृक्षों का बोध होता है। पर आम्र वृक्ष कहने से केवल वृक्षों की जाति का बोध होता है। यह अपर-सामान्य है। पर आमों में भी यदि हम कहें कि 'कलमी आम का 'पेड़' तो आम की जाति भी सामान्य हो जाती है। यह पर-अपर के बीच में रहने वाली श्रेणी परात्पर-सामान्य कही जाती है।

सामान्य से विपरीत को विशेष कहते हैं। जैसे सामान्य अधिक से अधिक समुदाय का भाव प्रकट करता है वहाँ विशेष कम से कम का भाव बतलाता है। सैकड़ों घड़ों में से यदि हम एक को छाँटना चाहें तो उसमें अवश्य कोई ऐसी भिन्नता मिल जायगी जिसके द्वारा उसे अन्य सब घड़ों से पृथक् किया जा सकता है। इस एक घड़े के भी विभिन्न भागों में कुछ अन्तर है और फिर जिन परमाणुओं से विभिन्न भाग बने हैं उनमें भी अन्तर है। इस प्रकार विशेष की खोज करते-करते हम छोटे से छोटे परमाणु तक जा पहुँचते हैं और आधार पर द्रव्यों का विभाग कर सकते हैं।

## समवाय का स्वरूप—

जैसा कहा गया है समवाय की कल्पना वैशेषिक की अपनी विशेष सूझ है जिसे अन्य दर्शनकारों ने निरर्थक और अनावश्यक बतलाया है। इसका अर्थ तो दो पदार्थों का संयोग है, पर वह 'समवाय' तभी कहा जा सकता है जबकि वह नित्य हो। उदाहरण के लिये हम कलम हाथ में लेकर लिखते हैं तो इन दोनों का संयोग हो गया। पर जब हम कलम को रख देंगे तो वह सम्बन्ध मिट जाता है। इसी प्रकार हमने किसी बर्तन में दही जमाया तो उन दोनों का सम्बन्ध हो गया। पर जब हम दही को बर्तन से निकाल लेंगे तो वह सम्बन्ध समवाय नहीं कहलाया। वरन् 'समवाय' ऐसा सम्बन्ध है कि जैसे लकड़ी और कुर्सी का अथवा सूत और वस्त्र का। यदि हम इस सम्बन्ध को मिटाना चाहें तो कुर्सी और वस्त्र भी समाप्त हो जावेंगे। इस प्रकार समवाय दो वस्तुओं का व्यापक समागम है जिसे हम गुणी और गुण का संबंध भी कह सकते हैं।

## अभाव की कल्पना—

यद्यपि वैशेषिक सूत्रोंमें महर्षि कणाद ने छः पदार्थों का ही उल्लेख किया है, पर पीछे के आचार्यों ने 'अभाव' नामक एक अन्य पदार्थ की कल्पना भी करली। इसका आशय दो वस्तुओं का सम्बन्ध होना प्रकट करता है। यह दो प्रकार का माना गया है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन भेद हैं। किसी वस्तु की उत्पत्ति के पहले जो अभाव होता है। वह 'प्रागभाव' कहलाता है। जैसे धागा और वस्त्र कार्य-कारण रूप होते हैं, पर जब तक वस्त्र नहीं बनाया जाता तो तब तक उनमें 'प्रागभाव' रखता है। इसी प्रकार जब किसी वस्तु के नष्ट, हो जाने पर जो अभाव उत्पन्न होता है वह 'प्रध्वंसाभाव' है जैसे घड़ा के फूट जाने पर उसका मूल उत्पादन मिट्टी बनी रहती है, पर घट रूप में उसके जो पानी भरने का कार्य [illegible] उसका अभाव

हो गया। तीसरा अत्यन्ताभाव हैं जिसका आशय यह है कि वह वस्तु भूत, भविष्यत, वर्तमान में कभी नहीं होती। अभाव केवल बुद्धि से अपेक्षित है, पर वैशेषिक आचार्यों ने इसको बड़ा महत्व दिया है, क्यों कि वे कहते हैं कि दु:खों का अत्यन्ताभाव ही मोक्ष है और वही मनुष्य का परम लक्ष्य है।

इस प्रकार वैशेषिक ने लौकिक पदार्थों के ज्ञान का व्यवहार से ही मोक्ष जैसी आध्यात्मिक स्थिति का प्राप्त होना सिद्ध किया है और संसारी लोगों के भौतिकवादी दृष्टिकोण देखते हुये इसकी आवश्यकता भी है। सूत्रकार के मन्तव्यों का निष्कर्ष यही है कि यह संसार प्राकृतिक रचना हैं, इसलिये जब तक प्रकृति के तत्वों और उसके छोटे-बड़े विभिन्न रूपान्तरों को न समझ लिया जायगा तब तक मनुष्य सम्यक् आचरण और व्यवहार करने में समर्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार वर्तमान समय में पाश्चात्य विद्वान आध्यात्मिक तत्वों की चर्चा किये बिना ही कर्त्तव्य और नीति के आधार पर अपने लोगों को जीवन निर्माण का मार्ग-दर्शन करते हैं और उसके द्वारा उन्होंने बड़ी-बड़ी सफलतायें भी प्राप्त करके दिखाई हैं, उसी प्रकार वैशेषिक ने अध्यात्म की चर्चा न करके समस्त विषयों को पदार्थ या द्रव्य के रूप में ही ग्रहण किया है, यहाँ तक कि उसके विवेचन में मन और आत्मा भी एक द्रव्य ही है। पर इस समस्त विवेचन का अन्तिम निष्कर्ष यही निकला है कि मनुष्य को धर्मानुकूल आचरण करना चाहिये क्योंकि इसी से अभ्युदय ( उन्नति या सफलता ) और नि:श्रेयस दु:खों से निष्कृति या मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं।

क्योंकि कणादि ने अपने ग्रन्थ में ईश्वर और परलोक का नामोल्लेख नहीं किया है अपने विवेचन को प्रत्यक्ष पदार्थों या उनके द्वारा अनुमान किये जा सकने वाले तथ्यों तक ही सीमित रखा है इस लिये अनेक लोग उनकी आस्तिकता में सन्देह करते हैं उनके प्रतिद्वन्द्वी अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय वालों के तो उसको आधा या पूरा नास्तिक ही

घोषित कर दिया है पर हम नहीं समझते कि वैशेषिक दर्शन का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर ऐसी कोई बात प्रकट होती है। अध्यात्म की चर्चा न करने पर भी कणाद ने वैसे ही धार्मिक आचरणों और कर्त्तव्यों का आदेश दिया है जैसा कि अन्य शास्त्रों में मिलता है। इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार करने से इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मुख्य बात तो शुद्ध भावना और तदनुसार शुभ आचरण ही है। उसे जो लोग ईश्वरीय आदेश मानकर करते हैं तो उनका मार्ग भी श्रेष्ठ है और जो उसे कर्त्तव्य और सज्जनता की भावना से करते हैं वे कोई अनुचित काम नहीं करते। इतना ही नहीं वर्तमान समय के बहुसंख्यक उदाहरणों को देखकर तो हमको यह अनुभव होता है कि जो लोग संसार को बन्धन या झूठी माया कहकर ईश्वर, अध्यात्म को ही मान्यता देते हैं वे आचरण की दृष्टि से कुछ और सिद्ध होते हैं, उनकी कथनी और करनी में काफी अन्तर दिखाई देता है। इसके विपरीत जो अध्यात्म और परमात्मतत्व के सम्बन्ध में अपनी अनजानकारी को स्वीकार करके कर्त्तव्य और सज्जनता के अनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं वे समाज और संसार की यथाशक्ति सेवा तथा उपकार करने में सफल हो जाते हैं। इसलिये यदि महर्षि कणाद ने अपने विवेचन में आचरण संहिता के एक पहलू को ही स्थान दिया तो यह कोई दोष या त्रुटि की बात नहीं है। उन्होंने ईश्वर और परलोक जीवन का निराकरण नहीं किया है और इन विषयों को अन्य विद्वानों के विवेचन के लिए सुरक्षित रख दिया है।

बौद्धों का विरोध—वैशेषिक में भौतिक तत्वों की विशेष चर्चा होने का मुख्य कारण यह भी है कि इसकी रचना का एक प्रधान उद्देश्य बौद्ध मत का खण्डन और वैदिक सिद्धांतों की स्थापना भी था। बौद्ध लौकिकतावादी थे और वेदों के साथ ईश्वर का भी खण्डन करते थे। मध्यकाल में उनका प्रभाव समस्त देश में बहुत अधिक व्याप्त हो गया था और कहने लगे थे कि बौद्ध धर्म के प्रचण्ड तेज के कारण वैदिक

सूर्य डूब गया। अन्त में न्याय और वैशेषिक जैसे दर्शनकारों और कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य जैसे धर्म प्रचारकों ने बौद्धों को पराभव करके वैदिक सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की ऐसी स्थिति में वैशेषिक ने भौतिक लाभ के आधार पर अपना प्रचार कार्य करने वाले बौद्धों का खण्डन करने के लिये यदि उसी धरातल पर खड़े होकर प्राकृतिक तत्वों की वेद सिद्धान्तानुकूल विवेचना की तो यह स्वाभाविक ही था। कहा जाता है कि न्याय और वैशेषिक दर्शनों के तर्कों और प्रमाणों के सामने निरुत्तर होकर बौद्ध विद्वानों ने इन दर्शनों को नष्ट-भ्रष्ट करने की हर तरह से चेष्टा की थी। अन्तमें इन्हीं के द्वारा उनका पराभव हुआ और वैदिक मान्यतायें पुनः प्रचलित हो सकीं। इस सम्बन्ध में उदयनाचार्य नामक विद्वान् की एक घटना विद्वानों में प्रसिद्ध हो गई है, जो ग्यारहवीं शताब्दी में मिथिला में हुये थे और जिन्होंने न्याय और वैशेषिक के बहुत उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे थे। वे किसी समय पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथजी के मन्दिर में दर्शनार्थ गये, पर उस समय भगवान के पट बन्द थे। उदयनाचार्य ने उसी समय दर्शन करने का आग्रह किया और भगवान् को अपना परिचय देते हुये उच्च स्वर से कहा—

ऐश्वर्यमदमत्तोसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीनातव स्थितिः॥

अर्थात्—'इस समय तो आप ऐश्वर्य के घमण्ड में मेरी अवज्ञा करते हैं, पर जब बौद्ध लोग आपके ईश्वरत्व का धुआंधार खण्डन करने लगेंगे तब आपके अस्तित्व की रक्षा मेरे द्वारा ही होगी।'

बौद्ध मतानुयायी अलौकिक तत्वों को, जिनका कोई प्रत्यक्ष अथवा सुदृढ़ अनुमान प्रमाण नहीं दिया जा सकता, वरन जो आत्मिक अनुभूति के विषय हैं अस्वीकार करके संसार के प्रत्यक्ष तथ्यों के आधार पर [illegible] वैदिक सिद्धान्तों के [illegible]

हटाकर उनके अनुयायी बनने जाते थे। इसलिए वैशेषिक दर्शनकार ने भी भौतिक तत्वों और प्राकृतिक रचना की नये ढंग से व्याख्या करके उनके सिद्धान्तों का निराकरण किया और सिद्ध किया कि परलोक और परमात्मा की सत्ता केवल शास्त्रों में वर्णित होने से ही माननीय नहीं है, वरन् सृष्टि रचना और प्राकृतिक तत्वों के विकास की समीक्षा करने से भी उसकी पुष्टि होती है। इसका कारण यही था कि शास्त्रार्थ करने वाले बौद्ध विद्वान् तर्कों और प्रमाणों के आधार पर वाद विवाद करते थे और प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में प्रतिपादित आध्यात्मिक तत्वों या ईश्वर सम्बन्धी विवेचन का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य न था।

इसलिये यदि वैशेषिककार ने भी अपनी तर्क प्रणाली में परमात्मा की चर्चा नहीं उठाई और बौद्धों के निरीश्वरवाद का खण्डन उन्हीं के भौतिकवादी सिद्धान्तों के आधार पर किया तो यह किसी प्रकार की निन्दा का विषय न होकर बहुत बड़ी प्रशंसा की ही बात थी। इस पर हमको आज की निगाह से विचार नहीं करना चाहिये जब कि बौद्धमत का नाम निशान ही इस देश से मिट गया है, वरन् उस समय की स्थिति को सामने रखकर करना चाहिये जिस समय कश्मीर से कन्याकुमारी तक बौद्ध धर्म का जयघोष सुनाई पड़ रहा था और वैदिक-धर्मानुयायियों को उनके राजनीतिक तथा सामाजिक प्रभाव के सम्मुख अपने अस्तित्व की रक्षा करना भी कठिन हो रहा था। उस समय महर्षि कणाद और महर्षि गौतम ही धर्म रक्षार्थ कटिबद्ध हुये और उन्होंने अपनी विद्या, बुद्धि तथा तर्क कुशलता द्वारा बौद्ध धर्म के जोरदार प्रवाह को रोक कर फिर से प्राचीन सिद्धान्तों की रक्षा और स्थापना की।

## वैशेषिक की कुछ विशेषतायें :—

वैशेषिक दर्शन में यद्यपि सर्वत्र भौतिक तत्वों और उनके स्वरूप की ही चर्चा की है, पर बीच-बीच में उन्हीं के आधार पर धर्माचरण के ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो जीवन के अभ्युदय और

समाज के उत्कर्ष की दृष्टि से बहुत उपयोगी और आवश्यक है। इनमें हमको सबसे अधिक महत्व की बात दान-सम्बन्धी विवेचन जान पड़ा है जिसका उल्लेख हम प्रसंगवश पीछे भी संक्षेप में कर चुके हैं। वर्तमान समय में दान-प्रणाली की जैसी दुर्दशा हो रही है और कुछ लोगों ने जिस प्रकार उसी को अपने जीवन निर्वाह का पेशा बना लिया है, वह अत्यन्त शोचनीय है। जो दान-प्रणाली परमार्थ की शिक्षा देने वाली और आत्मा को शुद्ध तथा सात्विक बनाने वाली थी आजकल निकम्मा रहकर भीख माँगने का हरामखोरी करने का साधन बन गई है। यदि हम इस सम्बन्ध में वैशेषिक के सिद्धान्तों पर विचार और मनन करते हैं तो उसका कुछ दूसरा ही रूप दृष्टिगोचर होता है।

महर्षि कणाद का वचन है कि दान का देना तो परमावश्यक है क्योंकि यह एक पवित्र सामाजिक कर्तव्य है। जिससे अनेक शुभ परम्पराओं का पोषण होता है और मनुष्य की आत्मा भी शुद्ध और उच्च होती है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

॥ बुद्धि पूर्वो ददाति ॥६।१।३॥

दान तो अवश्य दिया जाय, क्योंकि जो कुछ प्राप्त हो जाय उसे ताले में बन्द करके अकेले ही उपभोग में लाने से मनुष्य में हीन कोटि की स्वार्थ बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है, जिससे सामाजिक प्रगति रुकती है और अनेक लोकोपकारी कार्यों में बाधा उपस्थित हो जाती है। पर दान इस प्रकार दिया जाय जैसे जमीन, बीज और मौसम पर विचार करके खेती की जाती है। शास्त्रों में दान का महत्व बहुत अधिक वर्णन किया गया है और कहा है कि मनुष्य जो कुछ दान करता है वह आगे चलकर उसे सैकड़ों गुना होकर मिलता है। इसी आधार पर विद्वानों ने दान की तुलना खेती से की है कि जिस प्रकार खेत में एक दाना बोने से उसके सैकड़ों दाने मिलते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठभाव से दान करने का प्रतिफल अनेक गुना होकर मिलता है। वैशेषिक इस सिद्धांत को बिल्कुल ठीक

बतलाता है पर साथ ही उसका कहना है कि यह तभी हो सकेगा जब तुम दान को विवेक पूर्वक सोच समझकर दोगे।

दान सदा उपयुक्त पात्र देखकर श्रद्धापूर्वक, निःस्वार्थ भाव से करना चाहिये। ऐसे दान की एक विशेषता यह भी है कि उसे जहाँ तक हो चुपचाप बिना कुछ अहसान जताये देना चाहिये। आजकल की तरह अपने नाम का डंका पीटकर दान देना और जितना दिया है। उससे कहीं ज्यादा नामवरी और प्रशंसा की इच्छा रखना दान के महत्व को नष्ट कर देता है। शास्त्रों में कहा है कि दान से दो प्रकार के फल होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष फल से आशय सांसारिक भोगों की प्राप्ति है और परोक्ष से परलोक सद्गति और आत्मोत्कर्ष का अर्थ निकलता है। धर्मतत्व को समझने वाले इनमें से प्रत्यक्ष फल को निकृष्ट कहते हैं, क्योंकि भोगों की प्राप्ति का अन्तिम परिणाम मनुष्य का पतन ही होता है इसलिये दान सदैव आत्मा की शुद्धता तथा सद्गति की दृष्टि से ही देना चाहिये। दान के साथ ही दान लेने में भी ऐसी ही सावधानी की आवश्यता है। इसके लिये उपर्युक्त तीसरे सूत्र के पश्चात् ही चोथे सूत्र में कहा गया है।

तथा परिग्रहः ॥६।१।४॥

अर्थात्—दान लेने में भी विवेक का उपयोग करना चाहिये। दान को मुफ्त का माल समझकर उसके लिए लालायित रहना और अपनी कुछ भी योग्यता और पात्रता न होने पर भी निर्लज्जता पूर्वक उसे ग्रहण करना और उपयोग में ले लाना एक बहुत बड़ा पाप कर्म है। खेद है कि आजकल इस सूत्र में प्रकट किए गए सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत ढंग की स्थिति हर जगह दिखाई दे रही है। इस समय जितना दान दिया जाता है उनमें से ६० प्रतिशत आँखें बन्द करके कुपात्रों को ही दिया जा रहा है। सण्डे, मुसण्डे, नशेबाज, दुराचारी लोग निःशङ्क होकर दान ग्रहण करते हैं और उसके बदले में पुण्य के बजाय पाप कर्मों की

वृद्धि करते हैं। शास्त्रों में दान लेने का उत्तरदायित्व बहुत अधिक बताया गया है और कुदान का परिणाम दाता और ग्रहीता दोनों के लिये अनिष्टकारी लिखा है। इसी दृष्टि से दान के देने और लेने में वैशेषिकार ने बुद्धि और विवेक के पूर्ण उपयोग की चेतावनी दी है कि जिसका यदि पालन किया जाय तो निःसन्देह दोनों पक्ष का परम कल्याण हो सकता है।

महर्षि कणाद का मत तो यहाँ तक है कि पापी प्रकृति के मनुष्य को दान देने से भी पुण्य नहीं हो सकता। सूत्र ६।१।६ में कहा गया है—'सद्दुष्ट भोजने न विद्यते' और सूत्र ८ में कहा है। 'तदऽदुष्टेन विद्यते।' इसका आशय यही है अन्नदान आदि में पात्र का ध्यान रखना सर्वोपरि है। यदि आँखें बन्द करके चाहे जिसको दान दे दिया जायगा तो उससे पुण्य के बजाय उल्टा ही मिलेगा। क्योंकि दान पाने वाला मुफ्त माल पाकर जो कुकर्म या दुर्व्यसन करेगा उसका निमित्त कारण दाता ही होगा, इसलिये आठवें सूत्र में स्पष्ट कह दिया गया है कि 'तस्य समभिव्याहारतो दोषः' अर्थात् दुष्टों को दान देना तो दूर उनसे किसी प्रकार का व्यवहार रखना भी दोषपूर्ण है। दुष्ट की संगति का परिणाम कभी शुभ या सुखदाई नहीं हो सकता। किसी कवि ने भी कहा है—

सङ्गति कीजै साधु की हरै और की व्याधि।
ओछी संगति क्रूर की आठों पहर उपाधि॥

यदि दान के सम्बन्ध में महर्षि कणाद के उपदेशों का ध्यान रखते तो आज हिन्दू-समाज की दशा कुछ और ही होती। आज भी हिन्दुओं में इतना अधिक धन साधु, भिखारी, पण्डा, पुजारी मठ, मन्दिर तीर्थ, श्राद्ध, ब्रह्मभोज, सदावर्त आदि भिन्न-भिन्न रूपों में खर्च कर दिया जाता है कि उसकी गिनती करोड़ों नहीं अरबों तक पहुँच सकती है। यदि यह दान का धन विवेकपूर्वक खर्च कर दिया जाता और उसे हिन्दू धर्म का प्रचार करने तथा समाज को सबल और सशक्त बनाने के कार्य

करने में लगाया जाय तो आज कुछ और ही दृश्य दिखलाई पड़ता और हिन्दू जाति प्राचीन समय की तरह संसार में सर्वोच्च आसन पर विराजमान होती। पर अब विवेक शून्य होकर दान देने का परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दू धर्म अन्य देशवासियों की हँसी का पात्र बना हुआ है और वे लोग यहाँ गाँजा सुलफा की दम लगाते हुये जटाधारी साधुओं, मण्डलियों अथवा तीर्थों में दान लेते हुये लम्बे-चौड़े तिलक-धारी पण्डों के फोटो छाप-छाप कर संसार को बतलाते हैं कि हिन्दू विद्वान् तत्वज्ञान की दिखावटी बातें करते हुये वास्तव में कैसे अन्ध-विश्वास और ढोंगों का पोषण कर रहे हैं।

## कर्म-फल की प्रधानता :—

मनुष्य अपने कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता स्वयं ही है, इसको भी वैशेषिक ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है और जो लोग पुण्य को पैसे से खरीदने-बेचने की वस्तु समझते हैं उनकी इनमें बहुत भर्त्सना की गई है। हिन्दू धर्म में आजकल इस सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है। और श्राद्ध आदि का रूप ऐसा विकृत हो गया है कि शुभकर्मों का ह्रास होता जाता है। लोग समझते हैं कि हम चाहे जैसे कर्म करते रहे, अन्त में धन द्वारा दान-पुण्य करके उसे दूर कर ही लेंगे। इतना ही नहीं मरने के बाद भी मृतक के नाम पर धन द्वारा तरह-तरह के कर्मकाण्ड करके सोचते हैं कि मृतक को परलोक में सद्गति प्राप्त हो जायगी। पर यह विचार यथार्थ नहीं है वैशेषिक सूत्रों में कहा है—

आत्मान्तर गुण नामान्तरेऽकारणत्वात्

अर्थात्—'अन्य आत्मा के गुणों या कर्मों का अन्य आत्मा को फल नहीं मिलता, क्योंकि दो विभिन्न आत्माओं में इस प्रकार फल मिलने का कोई कारण नहीं देखा जाता।' अगर ऐसा विपरीत नियम सत्य होता तो जिस प्रकार एक आत्मा के पुण्य करने से दूसरी आत्मा को पुण्य

फल मिलता उसी प्रकार एक आत्मा के पाप कर्मों से दूसरी आत्मा को पाप फल ही मिलना चाहिये था। यदि इस सिद्धान्त को सत्य मान लिया जाय तो संसार की सारी व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जायगी और धन सम्पन्न व्यक्ति रुपये के जोर से पाप करने पर भी पुण्यात्माओं की गति पाने का दावा करने लगेंगे। यह स्थिति आजकल अनेक अवसरों पर प्रत्यक्ष देखने में आती है जब व्यभिचारी और आचरणहीन राजाओं और पूँजपतियों को भी दान-दक्षिणा के आधार पर 'धर्म-मूर्ति', की पदवी मिल जाती है और मरने के पश्चात् उनकी 'स्वर्गीय' आत्मा के गुणगान किये जाते हैं।

हर कोई भी निष्पक्ष विचारक इस प्रकार की मान्यता का समर्थन नहीं कर सकता वैशेषिक दर्शनकार ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि एक आत्मा के गुण—पाप पुण्य आदि दूसरी आत्मा के लिये सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकते। शास्त्रों में कर्म सिद्धान्तों का जो विवेचन किया है उसके अनुसार मनुष्य जो कर्म करता है वह बीज के दो दलों (भागों) में विभाजित हो जाता है एक संस्कार, दूसरा भोग। उस भोग को प्राप्त होते समय जैसा संस्कार मन से होता है उसी के अनुसार जीव उस भोग में सुख या दुःख का भाव अनुभव करता है। वास्तव में सुख दुःख भोग्य पदार्थ में नहीं होता वरन् हमारी मानसिक भावना या संस्कारों में रहता है। क्योंकि एक अन्तःकरण के संस्कार किसी दशा में दूसरे अन्तःकरण में नहीं जा सकते, इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सुख—दुःख की प्राप्ति अपने संस्कारों के अनुकूल ही होगी। किसी निकट या दूर के सम्बन्धी द्वारा दान-धर्म करने से उसकी मानसिक स्थिति नहीं बदल सकती और न किसी का दुःख, सुख-रूप में परिवर्तित हो सकता है। इसलिए सभी शास्त्रकारों ने प्रारब्ध की अटलता पर बहुत अधिक जोर दिया है और मुक्ति का निरूपण करते हुए स्पष्ट कह दिया है कि जब

तक मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्मों को भोग कर बिलकुल समाप्त नहीं कर लेता तब तक मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।

## भावना का महत्व–

इस दर्शन में भावों के प्रभाव की मीमांसा भी स्पष्ट रूप से की गई है और पाप-पुण्य का बहुत कुछ आधार भावों की अच्छाई-बुराई पर सिद्ध किया गया है। इस समय जब धर्म का रूप विकृत हो गया है, अधिकांश व्यक्ति धर्म-कर्म के वाह्य रूप को ही अधिक महत्व देते हैं और उसी के आधार पर किसी मनुष्य को ज्यादा या कम धार्मिक समझते हैं। कहने को तो मुँह से लोग कह देते हैं कि 'ठाकुरजी भाव के भूखे हैं' पर सभी धार्मिक स्थानों में धनी और निर्धन के साथ जो भेद-भाव पूर्ण व्यवहार किया जाता है उससे प्रकट हो जाता है कि हमारे कहने और करने में सादृश्य नहीं है। एक व्यक्ति जो अनीति के मार्ग पर चल कर महीने में लाख रुपया कमाता है और उनमें से एक हजार रुपया धार्मिक कार्यों में दे डालता है, वह उस गरीब की अपेक्षा धार्मिक माना जाता है जो कठिन परिश्रम करके पचास रुपया कमा पाता है, जिसको उसकी कमाई में स्त्री और दो तीन बच्चों का भरण-पोषण करना पड़ता है और जो मन्दिर में किसी पण्डित जी की कथा में अधिक से अधिक एक आना चढ़ा सकता है। लोग सेठ जी के अनैतिक कार्यों को जानते हुये भी उनको धर्मात्मा मान लेते हैं, और एक आना चढ़ाने वाला गरीब किसी श्रेणी में समझा ही नहीं जाता। पर यह आन्तरिक भावों की दृष्टि से परीक्षा की जाय तो उस गरीब के मन में परोपकार, धर्म, सच्चाई की भावना श्रीमान् व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पाई जाती है और समय आने पर वह धन-दान के रूप में नहीं तो किसी अन्य रूप में उसका परिचय भी देता है। इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर सूत्रकार ने कहा है—

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधाः।६।३।४।

अर्थात्—'भावना' के दोष से उपधा (उपाधि-अधर्म) होती है और भवना से अदूषित (शुद्ध) रहने से अनुपधा (अनुपाधि-धर्म) होती है।' इससे बाह्य कर्मों की अपेक्षा भावना को ही प्रधानता दी है। धर्म तभी होगा जब पुण्य-कर्म को आन्तरिक भावना और श्रद्धा के साथ किया जायगा। भूखे को भोजन कराना अवश्य पुण्य कार्य है पर उसका वास्तविक महत्व तभी है जब हम अतिथि सत्कार को अपना कर्त्तव्य और आगामी जीवन से उद्धार का हेतु समझकर निरभिमानया और श्रद्धापूर्वक करें। यदि इसके विपरीत दान देते समय हम यह अहङ्कार करें कि देखो हमारे द्वारा कितने लोगों की सहायता हो रही है और अपने इस भाव को किसी प्रकार दान लेने वालों पर प्रकट भी करदें तो उस उस दान को सर्वथा महत्वहीन नहीं समझना चाहिये। महाभारत की वह कथा प्रसिद्ध है जिनमें एक न्यौले का आधा शरीर चार रोटी का दान करने वाले के स्थान को स्पर्श करके सोने का हो गया था, पर जब उसने महाराज युधिष्ठिर के जगत् प्रसिद्ध राजसूय यज्ञ के स्थान का स्पर्श करके शेष आधे शरीर को सोने का कर लेने की चेष्टा की तो उसे सफलता नहीं मिल सकी। इस कथन द्वारा लेखक ने यही शिक्षा दी है कि वास्तविक सच्ची भावना का होता है। संसार का दिखाने और प्रशंसा प्राप्त करने को चाहे जितना बड़ा धर्म-कार्य कर लिया जाय परिणाम छोटा ही निकलता है।

## वेदों की प्रामाणिकता—

समस्त भारतीय ज्ञान-मार्गों का आधार वेद स्वीकार किया गया है। यद्यपि अपनी सीमित बुद्धि के कारण अथवा किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये विभिन्न विद्वानों ने वेद के पृथक्-पृथक् अर्थ किए हैं और उससे ज्ञान, कर्म और भक्ति में से किसी एक की प्रधानता सिद्ध की है, पर यह सबने माना है कि वेद मनुष्य मात्र के लिये ज्ञान का भण्डार है और उसके उपदेश किसी विशेष सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं

आते। वेदों से ही भारतीय धर्म के आचार और विचारों की धारा प्रवाहित हुई है। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि भारतीय-धर्म का भवन वेदों के आधार पर ही खड़ा किया गया है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में प्रचलित छः दर्शनों में कितने ही विषयों में मतभेद और विवाद होने पर भी वेद की प्रमाणिकता निःसंकोच भाव से स्वीकार की गई हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय या पन्थ ने अपने सिद्धान्तों को वेदानुकूल बतलाया है और वैसा सिद्ध करने की चेष्टा की है।

वैशेषिक ने सृष्टि की रचना का कारण 'परमाणु' को बतलाया है और शब्द को 'अनित्य कहा है, इसकी आलोचना करते हुये अन्य दर्शनकारों ने उसे वेद से प्रतिकूल कहा है। उनका कहना है कि जब शब्द को अनित्य माना जायगा तो वेदों को जो अनादि और अपौरुषेय कहा गया है, उसका विरोध होता है। इसी प्रकार जब अधिकांश वैदिक धर्मानुयायी सृष्टि का रचयिता ईश्वर को मानते हैं तो परमाणुओं में सृष्टि की रचना बतलाना भी वेद विरुद्ध है। पर इस प्रकार के आक्षेप शास्त्रार्थ और खण्डन-मण्डन' के ही सूचक हैं और हम उनको विशेष महत्व नहीं दे सकते। वैशेषिक दर्शनकार ने ग्रन्थ आरम्भ करके ही तीसरे सूत्र में 'धर्म' के प्रतिपादन के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट शब्दों में वेद को प्रमाण-स्वरूप माना हैं—

तद्वचनाम्नायस्य प्रामाण्यम्

अर्थात्—'धर्म के स्वरूप का निर्णय करने के लिये वेदों के वचन ही प्रमाण-स्वरूप हैं।' इसका आशय यही है कि सामान्य मनुष्यों का ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं होता। उन पर अपने संस्कारों, वातावरण, पूर्वाग्रहों का कुछ प्रभाव पड़ता ही है और वे उसी के अनुकूल ज्ञान की व्याख्या करते हैं। इसलिये कोई व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा विद्वान्, ज्ञानी और लोकमान्य हो अन्य विचारों के आलोचक उसके विचारों में त्रुटियाँ निकालेंगे ही। केवल वेद ही ऐसा ज्ञान है जो सवसम्मत और

सम्प्रदाय-भेद से अलग है और जिसमें मनुष्यों को जीवन के स्वाभाविक और त्रिकालाबित नियम बतलाये गये हैं। इसलिये जहाँ कहीं मतभेद उत्पन्न हो वहाँ उसका निर्णय वेद के आधार पर ही किया जाना चाहिये वैशेषिक दर्शन के अन्त में भी सूत्रकार ने इसी सूत्र को जों का त्यों लिखा है। अर्थात् इस प्रकार उन्होंने यह प्रकट किया है कि हमने ग्रन्थ के आरम्भ में जो यह प्रतिज्ञा की थी कि धर्म की वेदानुकूल व्याख्या करके समझायेंगे वह हमने पूरी करदी और इस ग्रन्थ में जो कुछ बतलाया गया वह सब वेद के प्रमाण से और उनके सिद्धान्तानुकूल लिखा गया है। हम नहीं समझेंगे कि जब ग्रन्थकार इस प्रकार मुक्तकण्ठ से वेद की प्रमाणिकता को स्वीकार करते हैं और उसी को अपना आधार बतलाते हैं तो उनका कोई अन्य किस प्रकार वेद के प्रतिकूल कह सकता है।

रह गई 'परमाणुवाद' और 'शब्दानित्यवाद' की बात जिनके आधार पर मीमांसक और वेदान्तियों ने वैशेषिक पर नास्तिकता का आक्षेप किया है, वे तो अपने बुद्धि की पहुँच और विवेचन शैली से सम्बन्धित हैं। वैशेषिक ने परमाणुओं से सांख्य ने प्रकृति से और वेदान्त ने ब्रह्म से जगत् का उद्भव बतलाया है, पर इन सबका अधिष्ठाता अथवा प्रेरक प्रत्येक ने ईश्वर को ही माना है। एक कहता है कि ईश्वर अपनी माया अथवा लीला से जगत् को प्रकट करता है और दूसरा कहता है कि ईश्वर प्रकृति अथवा परमाणु में प्रेरणा द्वारा ऐसी क्रिया आरम्भ कर देता है जिससे सृष्टि निर्माण का कार्य आरम्भ हो जाता है। इस वर्णन शैली की भिन्नता का कारण यही हो सकता है कि एक भौतिकवादी दृष्टिकोण से विवेचन कर रहा है और दूसरा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से योगों को समझाना चाहता है। पर संसार में दोनों तरह के लोग हैं, इसलिये आवश्यकता और महत्व दोनों का ही है। जो पाठक जिस रुचि का होगा वह उसी प्रकार के तर्कों द्वारा सन्तुष्ट हो सकेगा। वास्तविक भेद तो तब माना जाता जबकि इस विवेचन के आधार पर

मनुष्यों के भिन्न प्रकार के आचार विचारों और धार्मिक कार्यों की प्रेरणा की जाती। वैशेषिक में जहाँ आचार-विचार का जिक्र आया है, वहाँ वैदिक-कर्म, यज्ञ हवन, उपासना, दान, ध्यान आदि का ही विधान बतलाया गया है। इतना ही नहीं अपने समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के उपरान्त दर्शनकार ने यही कहा है—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ।१०।२।८

अर्थात्—वेदादि में जिन कर्मों का उपदेश किया गया है और जिन पर इसी लोक में आचरण किया जाता है उनको सदैव करते रहना चाहिये, चाहे किसी अवस्था में उनसे कोई लाभ भी प्रतीत न हो, क्योंकि अन्त में वे ही सुख और मोक्ष देने वाले हैं।

इस स्वीकारोक्ति के पश्चात् हमको वैशेषिक विरोधियों के आक्षेपों में कोई सार नहीं जान पड़ता। सृष्टि विकास से क्रम और प्रलयावस्था से निर्माण कार्य आरम्भ होने के सम्बन्ध में उसका अन्य दर्शनों से मत-भेद हो सकता है पर उसके कारण उसपर कोई दोषारोपण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वैशेषिक ने यही सिद्ध किया है कि भौतिक दृष्टि से भी धर्म का आचरण और वेद के आदेशों का पालन ही मनुष्य के लिये कल्याणकारी है। सब प्रकार के पदार्थों के निरूपण से यही निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि रचना में आत्मा ही एक मात्र चैतन्य और ज्ञान सम्पन्न पदार्थ है, इसलिये हम जो कुछ कर्म करें उसमें सदैव आत्म कल्याण और आत्मा के उत्थान का ध्यान रखना ही हमारा कर्त्तव्य है।

## अधुनिक विज्ञान से वैशेषिक की श्रेष्ठता—

इस विवेचन को करते हुये हमारा ध्यान वैज्ञानिक दृष्टि से वैशेषिक दर्शन की श्रेष्ठता पर जा पहुँचता है। एक विद्वान ने इस दर्शन को 'संस्कृत में पदार्थ-विज्ञान (साइन्स) का प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है।

वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। पश्चिमीय वैज्ञानिकों इसमें सन्देह नहीं कि वैशेषिक में सृष्टि-विज्ञान का संक्षेप में जितना यथार्थ ने विज्ञान का विस्तार बहुत अधिक किया है पर उनका विवेचन केवल प्राकृतिक पदार्थों तक ही सीमित है और उसमें भी अधिक ध्यान इस पर दिया गया है कि संसार में जो असंख्यों प्रकार के प्राकृतिक पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं, उसके गुण तथा उपयोगिता क्या हैं ? इस प्रकार उन्होंने प्रकृति के एक के अनेक होने की प्रक्रिया पर ही विशेष विचार किया है।

पर इन सबका मूल स्वरूप क्या है और दृश्य जगत् की उत्पत्ति के पहले उसमें किस प्रकार का रूपान्तर होकर सृष्टि का विकास होने लगता है, उस पर प्राचीन वैज्ञानिकों ने तो बहुत ही कम ध्यान दिया था और अब भी वे इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं कर सके हैं। इसका कारण यही है कि वे मुख्यतः जड़-प्रकृति की ही खोज करते हैं, उसी को अधिक महत्व देते हैं। पर संसार में व्याप्त चैतन्य तत्व की, जिसे हम ईश्वर के नाम से पुकारते हैं, की तरफ उनका ध्यान आकर्षित नहीं हो सका हैं। इसका कारण सम्भवतः यही है कि वे आवश्यकता से अधिक प्रत्यक्षवादी हैं और प्राकृतिक स्थूल पदार्थों की अपेक्षा सूक्ष्म तत्वों में उनकी रुचि होती है और न उनकी बुद्धि काम करती है। दूसरा कारण यह भी है कि अभी तक पाश्चात्य विज्ञान की परम्परा मुख्य रूप से नास्तिकवादी रही है, अब से सौ या अस्सी वर्ष पहले तो इस विचारधारा में संसार में एक बड़ी हलचल और क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। इस पूर्वाग्रह के प्रभाव से भी चैतन्य-तत्व की सत्ता को ठीक तरह समझने में असमर्थ रहते।

पर अब तक के अनुभव से हमको यही प्रतीत होता है कि शुद्ध भौतिकवाद जिससे ईश्वर, जीवात्मा और मूल प्रकृति का विचार छोड़ दिया जाता है और केवल भौतिक पदार्थों के गुणों और उपयोग पर ही

दृष्टि रखी जाती है, मनुष्य के मानसिक विकास के लिये हितकारी नहीं होता। उससे लोगों में स्वार्थ की वृत्ति बढ़ती है और वे अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ अपने लाभ का साधन-अपना लक्ष्य मानकर व्यवहार करते हैं। योरोप, अमरीका के पश्चिमी देशों के गत दो सौ वर्ष की वैज्ञानिक तथा राजनैतिक प्रगति पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है। इन्होंने अभी तक तो अफरीका, एशिया की सीधे सादे ढङ्ग से रहने वाली निरीह जातियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था मानो सभी एक तरह व्यवसायोपयोगी पदार्थ या सामग्री हैं। अब विश्वजागरण के प्रभाव से और परिस्थितियों के बदल जाने के कारण उस व्यवहार में अन्तर पड़ गया है पर अब भी अविकसित जातियों के प्रति उनका पुराना मनोभाव अधिक नहीं बदला हैं।

इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन ने भी यद्यपिप्रकृतिके द्रव्यों तथा उनके गुण तथा कर्मों (उपयोग) का ही मुख्य रूप से विवेचन किया है, पर उसका उद्देश्य यही बतलाया है कि इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्यों को अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो और वह मानव-धर्म को समझकर अन्य प्राणियों के प्रति दया, सहानुभूति, उदारता का बर्ताव करें। उसने प्रतिपादन किया है कि इस संसार में सबसे बड़ी समस्या दुःखों के छुट-कारा पाने की है और इसलिये मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह इसमें अनासक्त रह भर उचित व्यवसाय करना सीखे। इस सम्बध में ग्रन्थकार का कथन है कि संसार में हमको जितने दुःख या सुख दिखलाई पड़ते हैं वे बाहरी वस्तुओं की प्रतिकूलिता या अनुकूलता से ही अनुभव में आते हैं। जीवात्मा में तो स्वयं दुःख या सुख का स्वभाव है नहीं। क्योंकि यदि दुःख जीवात्मा का स्वभाव होता तो वह सदैव दुःखी ही रहता और फिर किसी प्रकार के उत्थान या मोक्ष आदि की चेष्टा करनी ही व्यर्थ थी। इसी प्रकार यदि उसका स्वभाव सुख का होता तो

फिर उसे संसार में सुख प्राप्ति के लिये किसी प्रकार की चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं थी। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा दुःख और सुख से परे है और जब तक वह इस तत्व को समझ नहीं लेगा तब तक उसकी व्यस्तता, व्याकुलता का अन्त नहीं हो सकता। इसके लिये वैशेषिक दर्शन बतलाता है कि इस जगत् में कौन-से तत्व तो जीव के अनुकूल हैं अर्थात् उसमें साधर्म्य' संबन्ध रखने वाले। यदि मनुष्य प्रतिकूल है अर्थात् उससे 'वैधर्म्य' सम्बन्ध रखने वाले हैं। यदि मनुष्य इस 'विज्ञान' को समझ जाय तो वह सहज में दुःखों से छुटकारा पाकर सच्ची शान्ति प्राप्त कर सकता है। ग्रन्थकार अन्त में यही निष्कर्ष निकालता है कि धर्म ही जीवात्मा का सधर्मी तत्व है और द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छः प्राकृतिक अङ्गों के पदार्थों के स्वरूप को समझ लेने से उसे साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान हो जाता है और वह दुःखों से पूर्णतः छुटकारा पा सकता है।

धर्म के निरूपण और उसका सम्यक् रूप से पालन करने में दर्शन शास्त्र का बड़ा महत्व है। जिन मजहबों में धार्मिक नियमों और कर्त्तव्यों का उपदेश केवल आदेश के रूप में दिया गया है, और वे विरुद्ध चलने पर लोगों को ईश्वर और नरक का भय दिखाया गया है, वे उच्चकोटि के धर्म नहीं माने जा सकते। उसके अनुयायी भेड़-बकरियों की तरह अपने आदि प्रचारक का अन्धानुसरण करते रहते हैं। वे कभी उन सिद्धान्तों की वास्तविकता अथवा सच्चाई को परखने की चेष्टा नहीं करते। इतना ही क्यों, वे तो इस प्रकार की भावना को भी एक महा-पाप समझते हैं। इसके विपरीत जिन धर्मों की नींव दर्शनशास्त्र पर रखी जाती है उनमें लोगों को धार्मिक नियमों और सिद्धान्तों के साथ उनकी युक्तियुक्तता भी बतलाई जाती है और उन पर स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करने का अवसर भी दिया जाता है। इसके परिणाम स्वरूप एक ही धर्म के भीतर सम्प्रदायों का आविर्भाव हो जाना अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि

स्वाभाविक प्रवृत्ति, देशकाल की विशेषता और व्यक्तिगत योग्यता के कारण एक ही लक्ष्य तक पहुंचने के लिये लोग विभिन्न मार्गों का अन्वेषण कर लेते हैं। कुछ लोग इसको धर्म की कमजोरी, उनकी सङ्गठनात्मक शक्ति का अभाव मानते हैं, पर हमारा विचार है कि इस प्रकार का ज्ञानमूलक धर्म ही स्थायी और इष्ट फलदायक हो सकता है। अन्ध-विश्वास के आधार पर सङ्गठित लोग क्षणिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं, पर वे आरम्भिक जोश के समाप्त हो जाने पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर स्वयं नष्ट भी हो जाते हैं। उसके विपरीत दार्शनिक ज्ञान के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित धर्म समय के छोटे-बड़े प्रहारों के सहते हुये भी अपने स्थान पर स्थित रहता है अपने लक्ष्य तक पहुँच ही जाता है। धर्म और दर्शन का यह सामंजस्य ही हिन्दू धर्म की बहुत बड़ी विशेषता है और अति प्राचीन अतीत से सम्बन्ध बनाये हुये हैं, इस दृष्टि से दार्शनिक ज्ञान का महत्व समझना और उसका अनुशीलन करना हमारा कर्त्तव्य है।

—श्री राम शर्मा आचार्य

ॐ

# वैशेषिक दर्शन

## प्रथमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

सूत्रार्थ—अथ = अब (आरम्भ के लिये माङ्गलिक शब्द), धर्म = धर्म की, व्याख्यास्यामः = व्याख्या करते हैं।

व्याख्या—जब मनुष्य को प्रमाण आदि का पदार्थ ज्ञान हो जाय, तब उसे धर्म के जानने की आवश्यकता होती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्याध्ययन आदि करके जब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, तब सांसारिक विषयों में फँसकर धर्म की ओर से उदासीन हो जाता है। भोगों के कारण उसकी इन्द्रियाँ विकारग्रस्त हो जाती हैं और यदि वह उन विषय-भोगों से बचने का प्रयत्न नहीं करता तो उसका दिनोंदिन पतन होता जाता है। यदि, उस समय संभल जाय तभी उत्थान होना सम्भव है, क्योंकि, इन्द्रियों का विकार ग्रस्त होना अविद्या के कारण होता है और अविद्या ही धर्म का उदय नहीं होने देती। या तो प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के शुभ कर्मों के फल रूप में धर्म का उदय होता है अथवा धर्म का उपदेश सुनने से मनुष्य में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि वेद-शास्त्र आदि से प्रमाणित धर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि धर्म का ज्ञान हुये बिना अर्थ, काम और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इसलिये धर्म का लक्षण बताते हैं। 'अथ' पद ग्रन्थ के आरम्भ होने का सूचक तो है ही, साथ ही उस

जाता है। अतः 'अथ' पद से ग्रन्थारम्भ करना कल्याणकारी समझना चाहिये।

यतोऽभ्युदय निः श्रेयसिद्धिस्स धर्मः ॥२॥

सूत्रार्थ—यतः = जिससे, अभ्युदय = यथार्थ ज्ञान अथवा तत्वज्ञान और निःश्रेयसिद्धिः = मोक्ष की सिद्धि हो, स = वही, धर्मः = धर्म कहा जाता है।

व्याख्या—जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके, उसे धर्म कहते हैं। 'यह गाय हैं, क्यों है यह गाय ? इसलिये कि इसमें गऊपन है। यह गऊपन ही गाय का धर्म है। अब कहते हैं कि गऊपन की पहचान क्या है ? गाय चार पाँव वाली होती है। चार पाँव तो अन्य पशुओं के भी होते हैं। तो कहा कि उसकी पूँछ के अन्त में बाल होते हैं। भैंस के पूँछ होती है। यों कहा कि गाय के दो सींग होते हैं। सींग दूसरे पशुओं के भी होते हैं। तो गाय के कण्ठ में नीचे की ओर कूबर लटका रहता है। ऐसा ही कूबर बैल के लटका रहता है। तो कहा कि गाय के थन होते हैं, बैल के नहीं होते। इस प्रकार चार पाँव का पशु, पूँछ के अन्त में बाल, दो सींग कण्ठ के नीचे लटकता हुआ कूबर और थन यह गायत्व हुआ। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये। अब अभ्युदय अर्थात् कल्याण के सम्बन्ध में कहते हैं। धर्म से लोक कल्याण भी सिद्ध होता है। जहाँ धर्म न होगा, वहाँ पाप-कर्म होते रहने से आध्यात्मिक कार्यों की ओर भी मन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और लोकाचार अर्थात् अतिथि-सेवा, सदाचार, अहिंसा आदि-आदि कर्मों का पालन भी नहीं हो सकता और पाप-कर्मों से तो वैसे भी दूषित रहता है और वहाँ हर प्रकार के दुष्कर्मों का साम्राज रहने से धर्म का तो एकदम अभाव रहता है। इसीलिये सूत्रकार ने धर्म का अभ्युदय कराने वाला अर्थात् परम सौभाग्य देने वाला और निःश्रेय सिद्धि अर्थात् दुःखों के परम निवृत्ति कराने वाला कहा है।

इससे सिद्ध होता है कि जिससे तत्व ज्ञान की प्राप्ति होकर दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो सके वही धर्म है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

सूत्रार्थ—तत् = उस धर्म का, वचनात् = कहने वाला होने से, आम्नायस्य = ग्रन्थ का (वेद का) प्रामाण्यम् = प्रमाण मानने योग्य है।

व्याख्या—जिस वस्तु का जिसे यथार्थ ज्ञान है, वह उसका ज्ञाता कहा जाता है और जो, जिस विषय का ज्ञाता है, वह उस विषय की वास्तविकता का वर्णन करे, तो उसका वह वर्णन प्रमाण समझा जायगा इसलिये वेद को सभी विषयों में प्रमाणित माना जाता है। क्योंकि, वेद में धर्म का वास्तविक रूप बताया गया है और उसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है, उसका पालन करने पर वैसा ही फल होते देखा जाता है। जिन-जिन अनुष्ठानों को वेदों सांसारिक भोगों की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ बताया हैं उन उन अनुष्ठानों का वैसा-वैसा फल ही होता देखा गया है। इससे यह माना जायगा कि जो अनुष्ठान पारलौकिक सिद्धि के लिये कहे हैं, उनसे पारलौकिक सिद्धि होगी ही, क्योंकि वेदों का रचयिता ईश्वर है और त्रिकाल महर्षियों ने, उनको प्रकाशित किया है, इसलिये उनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसलिये सूत्रकार ने धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, वेद से शिक्षा लेने का उपदेश देते हुये वेद का प्रमाण माना है। इससे सिद्ध होता है कि वेद के सिवाय अन्य कोई प्रमाण, धर्म के निरूपण में मान्य नहीं हो सकता।

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्म सामान्यविशेष
समवयानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां
तत्वज्ञानान् निःश्रेयसम् ॥४॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्म सामान्यविशेषसमवायानाम् = द्रव्य, गुण

कर्म, सामान्य, विशेष समय पदार्थानाम् = पदार्थों के, साधर्म्य = वैधर्माभ्याम् = अपने धर्म और विपरीत धर्म के द्वारा, धर्मविशेषप्रसूतात् = धर्म विशेष से उत्पन्न, तत्वाज्ञानात् = यथार्थ ज्ञान से, निःश्रेयसम् = मोक्ष की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—पदार्थ छः में—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इन वाक्यों के लक्षणों को वास्तविक रूप से जान लेने पर यह पहिचान हो जाती है कि 'यह पदार्थ इस प्रकार का है' अमुक कार्य में उपयोगी है'—उसे यथार्थज्ञान कहते हैं और 'यह पदार्थ इस प्रकार का नहीं है, अथवा 'यह अमुक कार्य में उपयोगी नहीं है' यह पदार्थ के विपरीत होने का ज्ञान है। अथवा किसी पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ज्ञान होना ही यथार्थ ज्ञान और उसकी वास्तविकता से विपरीत होने से विपरीत ज्ञान, जैसे गाय को बैल समझना अथवा रस्सी को सर्प समझ लेना—यह विपरीत ज्ञान है। जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब विपरीत ज्ञान रूप भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। क्योंकि, यह समझ लेने पर कि मुझे जो रस्सी में सर्प का ज्ञान हुआ था, वह मिथ्या भ्रम था, यथार्थ में यह रस्सी ही है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान ही तत्व ज्ञान है, उसके होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालोदिगात्मा

मन इति द्रव्याणि ॥५॥

सूत्रार्थ—पृथिवी = पृथिवी, आपः = जल, तेज = अग्नि, वायुः = वायु, आकाशम् = आकाश, कालः = काल, दिक् = दिशा, आत्मा = आत्मा और मन = मन, इतिद्रव्याणि = यह नौ द्रव्य कहे जाते हैं।

व्याख्या—पृथिवी, जल, अग्नि वायु और मन परिच्छिन्न, अर्थात् एकदेशीय द्रव्य और आकाश, काल दिशा, आत्मा यह चारों द्रव्य व्यापक कहें गये हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शास्संख्याः परिमाणानिपृथक्त्वं
संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धय, सुखदुःखे
इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥६॥

सूत्रार्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या, परिणाम, पृथक्त्व संयोग विभाग, परातत्व, अपरात्व बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्नः च = और (गुरुत्व, प्रव्यत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म अधर्म शब्द) यह चौबीस गुण हैं।

व्याख्या—यह चौबीस गुण नौ द्रव्यों में रहते हैं, यह सब पदार्थ के धर्म कहे जाते हैं अर्थात् यह गुण वैज्ञानिक खोजों और आविष्कारों में काम आते हैं।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारण गमनमिति
कर्माणि ॥७॥

सूत्रार्थ—उत्क्षेपणम् = ऊपर जाना उछलना अवक्षेपणम् = नीचे गिरना, आकुंचनम् = सिकुड़ना, = फैलाना, गमनम् = चलना, इति कर्माणि = यह कर्म है।

व्याख्या–पदार्थों के पाँच कर्म कहे हैं। प्रत्येक पदार्थ को अनुभव करने वाली एक-एक इन्द्रिय और मानी गई है, जैसे ऊपर जाना अग्नि का कर्म है, नेत्र उसके कर्म को देखता है, नीचे गिरना पानी का कर्म है, रसना अर्थात् जीव इसके गुण का अनुभव करती है, सिकुड़ना पृथिवी का कर्म है, नासिका उसका अनुभव करने वाली हैं, फैलाना आकाश का कर्म है—कान उसका अनुभव करते हैं, और चलना वायु का कर्म हैं उसका अनुभव त्वचा से होता हैं।

सदानित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति
द्रव्य गुण कर्मणामविशेष: ॥८॥

सूत्रार्थ—सत् = अस्तित्व वाला, अनित्य = नाशवान्, द्रव्यवत् = द्रव्य के समान, कार्यम् = उत्पन्न पदार्थ, कारणम् = उत्पन्न करने वाला सामान्य विशेषवत् = सामान्य और विशेष जैसा, इति = यह द्रव्य, गुण, कर्मणाम् = द्रव्य, गुण और कर्म का, अविशेष: = विशेषता-रहित (सामान्य) धर्म है।

व्याख्या—द्रव्य, गुण और कर्म सामान्य अस्तित्व वाले पदार्थ हैं। इनमें कोई विशेषता पाई नहीं जाती है। द्रव्य के दो भेद हैं—एक कारण द्रव्य और दूसरा कार्य द्रव्य। कारण द्रव्य वह है जिससे कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है और कार्य द्रव्य उत्पन्न होने वाले द्रव्य को कहते हैं जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है। इसमें मिट्टी कारण द्रव्य है, क्योंकि वह घड़े की उत्पन्न करने वाली है। जो कारण द्रव्य हैं वे नष्ट नहीं होते इसलिये उन्हें नित्य कहा गया है। जो कार्य द्रव्य हैं, वे नष्ट हो जाने वाले होने से अनित्य हैं, मिट्टी नित्य है, क्योंकि वह टूटती, फूटती या नष्ट होती दिखाई नहीं देती। उसका कार्य घड़ा टूट जाता है इसलिये वह अनित्य है और टूटने पर मिट्टी रूप होकर मिट्टी में ही मिल जाती है इससे भी मिट्टी का नित्य होना सिद्ध है। इसी प्रकार कारण-गुण और कारण-कर्म नित्य तथा कार्य-गुण और कार्य-कर्म अनित्य हैं। कारण गुण स्वाभाविक गुण को कहते हैं जैसे अग्नि का स्वाभाविक गुण प्रकाश है, जहाँ अग्नि होगी वहाँ उसके साथ प्रकाश अवश्य होगा। अग्नि की एक चिनगारी में भी प्रकाश की चमक होगी। तो अग्नि के साथ प्रकाश नित्य है और कार्य गुणनैमित्तिक होता है, जैसे स्वर्ण का गुण द्रवित होना है, परन्तु उसकी द्रवता अर्थात् गर्मी उसका स्वाभाविक

गुण नहीं है। क्योंकि, ठण्डे स्थान में डाल देने से लोहा थोड़ी देर में ही ठण्डा हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि कार्य-गुण अनित्य है। कारण कर्म चेतन के द्वारा सम्पन्न होने से नित्य है और क्रिया चेतन के आश्रय होने से अनित्य समझनी चाहिये।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणयोः = द्रव्य और गुण का, सजातीयारम्भकत्वम् = अपने सजातीय पदार्थ को उत्पन्न करना, साधर्म्यम् = समान धर्म है।

व्याख्या—द्रव्य और गुण अपने ही रूप, रङ्ग, धर्म वाले पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की जाति के पदार्थ को पैदा नहीं कर सकते। अर्थात् यों समझिये कि द्रव्य से गुण की उत्पत्ति नहीं होती। द्रव्य ही उत्पन्न होगा और गुण से गुण उत्पन्न होगा। इसी को सजातीय आरम्भिक कहते हैं। जैसे स्वर्ण से जो आभूषण बनेगा उसका रूप स्वर्ण जैसा ही होगा। मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टी ही रहेगा।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते: गुणश्चगुणान्तरम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—द्रव्याणि = द्रव्य से, द्रव्यान्तरम् = द्रव्य की विभिन्नता, च = और गुण = रूप आदि गुण से, गुणान्तरम् = गुणों की विभिन्नता का, आरम्भन्ते = आरम्भ होता है।

व्याख्या—जैसे, कारण द्रव्य से कार्य-द्रव्य बनता है। या यों कहिये कि द्रव्य के परमाणुओं के मिलने से उनका कार्य घड़ा या वस्त्र बनता है, वैसे ही रूप आदि गुणों से अपने समान रूप की उत्पत्ति होती है। जैसे अग्निका गुण प्रकाश है, पर जब तक चिनगारी रही, तबतक प्रकाश दिखाई नहीं दिया धीरे-धीरे चिनगारी ने अग्नि का रूप लिया तो उसके रूपान्तर

में प्रकाश दिखाई देने लगा। गुण की छिपी हुई सत्ता ही प्रकट होती है, जैसे—हल्दी और चूना मिलाने पर लाल रङ्ग उत्पन्न होता है, इस प्रकार के गुणों के संयोग से गुणों की विभिन्नता भी प्रत्यक्ष है'।

कर्म-कर्म साध्यं न विद्यते ॥११॥

सूत्रार्थ—कर्म = कर्म, कर्म साध्यं = कर्म को उत्पन्न करने वाला, न = नहीं, विद्यते = होता है।

व्याख्या—कर्म के द्वारा कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कर्म सदा रहने वाला अर्थात् नित्य नहीं है और जो वस्तु नित्य नहीं वह किसी को उत्पन्न करने वाली भी नहीं हो सकती। यदि कर्म का उत्पन्न होना भी मान लें तो पहिले कर्म से दूसरा कर्म उत्पन्न होगा, इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् कर्म से ही उत्पन्न हुआ मान लिया जायगा।

न द्रव्यं कार्यं कारणं न बाधति ॥१२॥

सूत्रार्थ—च = और, कार्यम् = कार्य द्रव्य, कारणम् = अपने कारणद्रव्य को, बाधति = नष्ट करने वाला न = नहीं है।

व्याख्या—कोई भी कार्य द्रव्य अपने कारण द्रव्य का नाश नहीं कर सकता, इसी प्रकार कारण-द्रव्य भी अपने कार्य द्रव्य को नष्ट करने में समर्थ नहीं है। उससे सिद्ध होता है कि कार्य या कारण-द्रव्य आपस में एक दूसरे विरोधी नहीं है। क्योंकि कार्य बनने पर भी कारण-द्रव्य का अस्तित्व बना रहता है। जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है उस पर रङ्ग रोगन होने पर मिट्टी का अस्तित्व रहता ही है। स्वर्ण के आभूषणों में सोने की सत्ता रहेगी तो इस प्रकार कारण-द्रव्य की सत्ता बनी रहती है, परन्तु कर्म के द्वारा कार्य का विनाश हो सकता है। घड़े को तोड़ना या आभूषण को गला कर फिर सोना बना लेना कर्म ही है। इससे कार्य का नाश होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

उभयथा गुणाः ॥१३॥

सूत्रार्थ—उभयथा=दोनों प्रकार के, गुण:—गुणों में समानता है।

व्याख्या—कारण गुण और कार्य गुण दोनों समान धर्म वाले है। क्योंकि, कारण से कार्य उत्पन्न होता हैं, इसलिए जैसा कारण होगा वैसा कार्य होगा। करेले के बीजसे करेगा ही उत्पन्न होगा, आम नहीं हो सकता। सोने के आभूषण सोने के रूप के ही होंगे, वे सुनहले होंगे। चाँदी के आभूषण रूपहली होंगे, वे सुनहले नहीं हो सकते। क्योंकि आभूषणों में उसकी कारणरूपा धातु विद्यमानता ज्यों की त्यों वनी रहती है। इसी प्रकार घड़े में मिट्टी का रूप और वस्त्र में धागों का विद्यमान रहना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। कुछ व्याख्याकार इस सूत्र का अर्थ गुण से द्रव्य और गुण दोनोंका नाश होना बताते हैं। क्योंकि द्रव्य से गुण के नियम में भिन्नता है।

कार्य विरोधि कर्म ॥१४॥

सूत्रार्थ—कर्म=कर्म, कार्य-विरोधि=कार्य का विरोधी है।

व्याख्या—कर्म अपने कार्य से नष्ट हो जाता है। जैसे आभूषण बनाने वाला स्वर्णकार आभूषण बनाता है और जब सबका आभूषण बन जाता है, तब वह अपने कर्मको रोक देता है। इसी प्रकार, कुम्भकार का कर्म भी तभी तक चलता हैं जब तक कि घड़ा बन नहीं जाता। घड़ा बनते ही कर्म समाप्त हो जाता है। इसीसे सिद्ध होता है कि कार्य ही कर्म का विरोधी है अर्थात् कार्य के उत्पन्न होते ही कर्म का नाश हो जाता है। संयोग वियोग रूप कार्य करने वाला कर्म अपने कार्य से ही नाशको प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता, बल्कि, गुण ही कार्य और कारणको नष्ट कर देताहै। जैसे —आभूषण बनतेपर कर्मतो समाप्त होगया, आभूषण के

रूपमें कारणका यथार्थ रूप छुप गया और जो कार्य रूप आभूषक बना उसमें भी कारण के गुण अर्थात् सुनहलीपन का ही प्रभाव रहा। इससे सिद्ध हुआ कि गुण ही सर्वोपरि है तथा कर्म का विरोधी कार्य है।

क्रियागूणवत् सम वायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

सूत्रार्थ=क्रियागुणवत्=क्रिया और गुण के समान, समवायि-कारणम्=समवायि कारण होता है, इति=यह, द्रव्यलक्षणम्=द्रव्य का लक्षण है।

व्याख्या—द्रव्य उसे कहते हैं जो क्रिया को ग्रहण कर सकता हो, जो क्रिया के द्वारा अपनेको बदल सके अथवा अन्य वस्तुओं को उत्पन्न कर सके। जिसका कार्य के साथ सम्बन्ध बना रहे अर्थात् कार्य रूप में बदल कर भी अपना अस्तित्व न छोड़े तभी क्रियावन्त कारण कहा जाता है।

द्रव्याश्रय्यगुणवान्संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति
गुण लक्षणम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—द्रव्याश्रयि=द्रव्य सहारे रहने वाला, अगुणवान्=गुणसे रहित, संयोग विभागेषु=संयोग-वियोग के, अकारणम्=बिना कारण, अनपेक्ष=अपेक्षारहित हो, इति=यह, गुण लक्षणम्=गुण के लक्षण हैं।

व्याख्या—गुण उसे कहते हैं जो द्रव्य के आश्रय में रहता हो, परन्तु, आश्रित होता हुआ भी द्रव्य और कर्म से अलग रहे। इसमें किसी अन्य गुण की अपेक्षा नहीं और वह वस्तुओं के संयोग तथा वियोग का भी कारण नहीं है। द्रव्य का आश्रित कहने मात्र से गुण का बोध नहीं हो सकता था, क्योंकि द्रव्य के आश्रय में ही कर्म रहता है। इसलिए सूत्रकारने उसके वर्णनको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो किसी वस्तु के संयोग और विभाग का कारण न हो, क्योंकि ऐसा लक्षण कर्म

का है, उसी के द्वार, वस्तुयें मिलती और अलग-अलग होती हैं। फिर कहा है कि अपेक्षा रहित हो अर्थात् जिसे क्रिया और विभाग की अपेक्षा भी न हो क्योंकि, वह सदा वय का आश्रित रहता है। इसलिए उसे अपेक्षारहित कहा। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्याश्रित, संयोग-विभाग में अकारण, अपेक्षा-रहित यह लक्षण गुण के हैं।

एकद्रव्यमगुणं, संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति
कर्मलक्षणम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—एकद्रव्यम्=एक द्रव्य के आश्रित, अगुणम्=निर्गुण, संयोग विभागेषु=संयोग तथा विभाग के समय, अनपेक्ष=किसी कार्य की अपेक्षा न करने वाला कारणम्=कारण, इति=यह कर्म, कारणम् =कर्म का लक्षण है।

व्याख्या—एक द्रव्य के सहारे रहने वाला, गुण-रहित संयोग और विभाग में किसी और के सहयोग की आशा किये बिना, स्वयं ही कारण हो, वह कर्म है। अर्थात् सोने के आभूषण बना देना या आभूषण को गलाकर सोना बना देना यह कार्य कर्म का ही है, वह केवल उसी एक द्रव्य के सहारे रहता है, जिसका रूप बदला जाना है, इसलिए 'एक द्रव्यम्' और 'अनपेक्ष' पदों का इस सूत्र में प्रयोग किया गया है।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मणाम्=द्रव्य, गुण और कर्मका द्रव्य-कारणम् ....एक द्रव्य ही कारण है, सामान्यम्=साधारण तौर पर यही बात मानी जाती है।

व्याख्या—जैसे एक पिता के कई पुत्र होते हैं, वैसे एक उत्पादन कारण रूप द्रव्य, गुण और कर्म तीनों ही रहते हैं। किस प्रकार स्वर्ण से आभूषण बनता है, जो आभूषण में स्वर्ण रूप द्रव्य जो है

ही उसका गुण अर्थात् रूप भी है और स्वर्ण है तो आभूषण बनाने वाला कर्म भी हो सकता है। यदि स्वर्ण नहीं होगा तो आभूषण बनाने का कर्म भीं नहीं हो सकेगा। इससे सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य में ही द्रव्य, गुण, कर्म तीनों ही रहते हैं।

तथा गुणाः ॥१९॥

सूत्रार्थ—तथा=वैसे ही, गुणाः=गुण भी कारण है :

व्याख्या—जैसे द्रव्य उत्पादन कारण है, वैसे ही गुण भी कारण है। द्रव्य समवायि कारण है और गुण असमवायि कारण है। क्योंकि द्रव्यमें रूप आदि होना तथा ऊपर उठना, गिरना आदि कर्म से ही होते हैं। जैसे दो द्रव्यों के संयोग से एक वस्तु बने, तो उस संयोग में जो गुण है, वही उसका कारण।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—संयोगविभागवेगानाम्=संयोग, विभाग और वेग का कर्मःकर्म का कारण होना, समानम्=साधारण धर्म है।

व्याख्या—संयोग, विभाग और वेग इन तीनों का कारण कर्म है। दो बस्तुओंका मिलाना और उनको अलग-अलग कर देना यह कार्य कर्म का ही है और वेग, जब कमान से तीर चलने में वेग उत्पन्न होता है तो वह कार्य भी कर्म का है। इस प्रकार संयोग, विभाग और वेग इन तीनों का उत्पन्न करने वाला कर्म को मानना ठीक ही है।

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥

सूत्रार्थ—द्रव्याणाम्=द्रव्यों का कारण, कर्मः=कर्म, न=नहीं है।

व्याख्या—द्रव्य की उत्पत्ति कर्म से नहीं हो सकती, द्रव्य, द्रव्य से ही उत्पन्न होता है या गुण से उत्पन्न होता है।

व्यतिरेकात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—व्यतिरेकात् = व्यतिरेक होने से भी कम द्रव्य का कारण नहीं हो सकता।

व्याख्या—जिस समय द्रव्य उत्पन्न होता है उस समय कर्म का अभाव होता है अर्थात् द्रव्य कर्म के बिना ही उत्पन्न होता है। द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। दूसरे, कर्म तो द्रव्य का उत्पन्न होने वाला कभी हो ही नहीं सकता क्योंकि वस्तुओं में संयोग करके कर्म स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे किसी तीर बनाने वाले का कार्य तीर बनाना है, जब तीर बन जाता है, तब वह तीर बनाने के कार्य को नहीं करता। इस प्रकार तीर रूप कार्य के उत्पन्न होने पर बनाने वाले का कर्म नहीं रहता। इसलिए कर्म नाशवान् है। तथा द्रव्य में ही कर्म होता है, इसलिए वह उसका उत्पादक नहीं, आश्रित है। यदि कर्म को द्रव्य का कारण मानें तो कर्म का द्रव्य की उत्पत्ति से पहले उपस्थित रहना आवश्यक है। परन्तु कर्म द्रव्य से पहले नहीं होता, इसलिए भी उसे द्रव्य का कारण नहीं मान सकते।

द्रव्याणां द्रव्य कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—द्रव्ययाणाम् = द्रव्यों का, द्रव्यकार्यं सामान्यम् = कार्य रूप द्रव्य का उत्पन्न करना सामान्य धर्म है।

व्याख्या—जैसे एक द्रव्य से द्रव्य, गुण और कर्म उत्पत्ति कही गयी है, वैसे ही बहुत से द्रव्यों से भी कार्य की उत्पत्ति माननी चाहिये। बहुत से धागे मिलकर वस्त्र बनता हैं, तो इसमें धागा भी द्रव्य हैं और वस्त्र भी है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य से द्रव्य की उत्पत्ति हो है।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥२४॥

सूत्रार्थ—गुणवैधर्म्यात् = गुणों से प्रतिकूल धर्म वाला हो

से, कर्मणाम्=कर्म का, कर्म=कार्य होना, न=सिद्ध नहीं है।

व्याख्या—कर्म का रूप गुणों के एकदम विपरीत है, अर्थात् द्रव्य और गुण दोनों ही कार्य रूपद्रव्य और गुण को उत्पन्न करते हैं। परंतु कर्म इनसे विपरीत धर्म वाला है, इसलिए कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि, कर्ता से कर्म की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, इस लिए भी कर्म से कर्म की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥२५॥

सूत्रार्थ—द्वित्वप्रभृतयः=दो प्रभृति संख्याः=संख्या, च=और पृथक्त्व संयोग विभागा=अलग होना, संयोग और विभाजन होना यह अनेक द्रव्यों के कारण रूप है।

व्याख्या—दो या उससे अधिक का अलग-अलग होना, मिलना आदि गुण अनेक द्रव्यों के संयोग से होते हैं, एक द्रव्य होने पर इन गुणों का होना सम्भव नहीं है। क्योंकि, यह गुण स्वाभाविक नहीं है। एकसे अधिक संख्या वाली वस्तु होने पर ही एक से अधिक संख्या का प्रयोग होता है। एक वस्तु में दो संख्या का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

असमवायात्सामान्यकार्यं कर्म नविद्यते ॥२६॥

सूत्रार्थ—असमवायात्=समवाय कारण न होने से, सामान्य कार्यम्=बहुत से द्रव्योंका सामान्य कार्य होना, कर्म=कर्म, न=नहीं विद्यते=होता।

व्याख्या—सब कार्य समवाय अर्थात् बहुत से द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, परन्तु कर्म असमवाय अर्थात् एक द्रव्य से उत्पन्न होने वाला है, इसलिए कर्म अनेक द्रव्यों का सामान्य कार्य नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि कर्म संयोग से उत्पन्न नहीं होता, वलिक वह चेतनके प्रयत्न से ही होता है। हमारे शरीर में जो कर्म है, वह आत्मा के शरीर से निकलते ही समाप्त हो जाता है और शरीर निश्चेष्ट पड़ा रहता है।

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

सूत्रार्थ—संयोगानाम्=संयोगों का, द्रव्यम्=द्रव्य कार्य है।

व्याख्या—अवयव वाला प्रत्येक पदार्थ संयोग से ही उत्पन्न होता है। जब बहुत से अवयव आपस में मिल जाते हैं, तभी कार्य रूप द्रव्य उत्पन्न होता है। इससे यही माना जाता है कि संयोगके बिना अवयव वाला कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। परन्तु, स्पर्श गुण-रहित और पर माणु रहित द्रव्य के संयोग से किसी कार्य-द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती।

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—रूपाणाम्=रूपों का, रूपम्=रूप होना साधर्म्य है।

व्याख्या—रूप से रूप की उत्पत्ति होती है। जैसे धागों से बना हुआ वस्त्र धागों के ही रूप का होता है या स्वर्ण से बने हुए आभूषण स्वर्ण के रूप वाले ही होते हैं। मिट्टी के अवयवों से मिलकर घड़ा बनता है। जो रूप मिट्टी के अवयवों का होता है, वही रूप घड़े का होता है। इससे सिद्ध हुआ कि रूप-रहित अर्थात् अप्रकट पदार्थ से किसी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

गुरुत्व प्रयत्न संयोगानामुत्क्षेपणम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—गुरुत्व=भार, प्रयत्न संयोगानाम्=प्रयत्न और संयोग इनका, उत्प्रेक्षणम्=ऊपर जाना आदि कर्म समान हैं।

व्याख्या—किसी वस्तु में बोझ होना, उस वस्तु के ऊपर उछलने का प्रयत्न और उस वस्तु के साथ हाथ का संयोग, यह सब समान कर्म है। परन्तु इन कर्मों की आवश्यकता गुरुत्व के बिना नहीं पड़ सकती। क्योंकि बोझ के कारण उसे उठाने का प्रयत्न करना होता है और तभी हाथ का संयोग होता है। यदि बोझ न हो तो उस वस्तु को किसी सहारे की आवश्यकता नहीं हो सकती थी।

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥३०॥

सूत्रार्थ—कर्मणाम्=कर्मोंका, संयोग=संयोग, च=और, विभाग=विभाग होना समान है।

व्याख्या—संयोग और विभाग यह दोनों कार्य कर्म से ही होते हैं, इसलिए इन्हें समान कहा गया है। क्योंकि कर्म के बिना न तो कोई वस्तु मिलाई जा सकती है और न कोई वस्तु अलग-अलग की जा सकती है। इसलिए, इन दोनों का कारण कर्म को ही मानना चाहिए। जैसे चने की दाल बनानी है तो उसे दलने के लिए दरेंता चलाना होगा। बिना दले हुए दाल नहीं बन सकती।

कारणसामान्ये द्रव्य कर्माणां कर्माकारणमूक्तम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—कारण सामान्ये=कारण की समानता से, द्रव्य कर्मणाम्=द्रव्य तथा कर्म का, कर्माकारणम्=कर्म को उत्पन्न न करने वाला, उक्तम्=कहा गया है।

व्याख्या—जहाँ कारण का सामान्य प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ द्रव्य और कर्म को नहीं कह सकते, क्योंकि कर्म से न तो द्रव्य उत्पन्न होता है और न कर्म ही उत्पन्न होता है। इसलिए कर्म को द्रव्य और कर्मका उत्पन्न करने वाला नहीं कहा गया। परन्तु द्रव्य, कर्मको छोड़-कर, गुणों का उत्पन्न करने वाला कर्म हो सकता है जैसे कि स्वर्ण को तपा तपाकर उसके रङ्ग में अधिक निखार कर्म के द्वारा ही होताहै या घड़े का रूप कर्म के द्वारा ही प्रकट होता है। इससे सिद्ध हुआ कि जैसा कारण होगा उससे वैसा ही कार्य उत्पन्न होगा, इसलिए कर्म से द्रव्य अथवा कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

॥ प्रथमोऽध्यायः—प्रथम आह्निक समाप्त ॥

# प्रथमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

कारणाऽभावात्कार्याऽभावः ।।१।।

सूत्रार्थ—कारण अभावात्=कारण के न होने से, कार्य-अभावः =कार्य भी नहीं होता।

व्याख्या—जब उत्पन्न करने वाला ही नहीं, तो उत्पत्ति रूप कार्य कहाँ से होगा ? जब जीव होगा तभी अंकुर होगा अथवा मिट्टी होगी तो घड़ा बनेगा। इस प्रकार कारण होगा, तभी कार्य हो सकेगा, बिना कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता। यदि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति मानें तो कभी वस्तु का अभाव ही न रहे।

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ।।२।।

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, कार्य-अभावात्=कार्य के न होने से, कारण-अभावः=कारण का अभाव होना, न=नहीं माना जाता।

व्याख्या—यह नहीं कह सकते कि कार्य के न होने से कारण भी नहीं हो सकता। जैसे कि धुँआ कार्य और अग्नि कारण है, धुआँ न होने पर भी अग्नि का अभाव नहीं हो सकता। जिह्वा का कार्य बोलना है। वह जब चाहे तब बोले या न बोले। यदि जिह्वा न बोले तो यह नही माना जा सकता कि जिह्वा हैं ही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि कर्म के अभाव में जीवात्मा का अभाव नहीं हो सकता है। परन्तु, जीवात्मा न रहे तो शरीर चेष्टाहीन होता है और तब कर्म का ही अभाव हो जाता है।

सामान्यं विशेषइति बुद्ध्यपेक्षम्।

सूत्रार्थ—सामान्यविशेष=सामान्य और विशेष, इति=यह, बुद्ध्यपेक्षम्=बुद्धि की अपेक्षा से है।

व्याख्या—जो अनेकों से सम्बन्ध रखे वह सामान्य और जो कम से सम्बन्ध रखे वह विशेष कहा जाता है। इस प्रकार जो गुण बहुत-से पुरुषों या देशोंमें पाये जाते हैं उन्हें सामान्य कहेंगे और थोड़ेसे व्यक्तियों या एकाध देशमें पाये जाते हैं, वे विशेष गुण कहे जायेंगे। जैसे सामान्य जाति के सब लोगों को 'मनुष्य' कहते हैं तो यह मनुष्य शब्द सामान्य हुआ और मनुष्यों की किसी जाति-विशेष में जैसे-ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तो यह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि विशेष हुआ। वह सामान्य और विशेष की मान्यता बुद्धि के कारण है। अर्थात् बुद्धि कहीं किसी को सामान्य मानती है, कहीं विशेष मानती है।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

सूत्रार्थ—भाव:=अस्तित्व और, अनुवृत्ति=बार-बारकी उपलब्धि से, एव=इस प्रकार, हेतुत्वात्=हेतु होनेसे, सामान्यम्-एव=सामान्य रूप ही है।

व्याख्या—वस्तुओंके बार-बार मिलने से उनके अस्तित्व का होना सिद्ध होता है और इस प्रकार के अस्तित्व को सामान्य कहते हैं। जो पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब अस्तित्व वाले। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी सत्ता न हो, और जिसकी सत्ता है, वह सामान्य ही माना जायगा।

द्रव्यत्वं गुणत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

सूत्रार्थ—द्रव्यत्वगुणत्वम्=द्रव्यत्व, गुणत्व, च=और, कर्मत्वम् =कर्मत्व तह तीनों, सामान्यानि=सामान्य है, च=और, विशेष: =विशेश हैं।

व्याख्या—द्रव्य में द्रव्यपन है, गुण में जो गुणपन है तथा कर्म में जो कर्मपन है, वह द्रव्य से द्रव्य का, गुण से गुण का और कर्म से कर्म का भेद प्रकट करता है। जैसे स्वर्ण का जो रूप है वह स्वर्ण

में ही होगा, तथा मिट्टी का गुण पानी में घुल जाना अथवा सन्ध्या आदि कर्म या भोजन बनाना, खाना आदि सब सामान्य ही कहे जाते हैं। इनमें कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि सर्वत्र ऐसा ही देखा जाता है।

अन्यत्राऽन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥

सूत्रार्थ—अन्त्येभ्यः=अन्त्यावयवी में स्थित, विशेषेभ्यः=विशेषों से, अन्यत्र=भिन्न को सामान्य कहा है।

व्याख्या—जिस कार्य रूप द्रव्य से द्रव्य में कार्य का अन्तर न पड़ा हो, उसे अन्त्यावयवी कहते हैं। घड़े और वस्त्र आदि में यही बात है कि वे जिस रूप में बन जाते हैं, उनके उस रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, यही उनका अन्त्यावत्व है। यह कार्य द्रव्य की विशेषता है। इनसे भिन्न जितने भी द्रव्य वृत्ति के पदार्थ हैं, वे सामान्य भी हैं और विशेष भी हैं। जिनकी कार्य-अवस्था में अलग-अल गुण पाये जायें, वे विशेष और एक से गुण पाये जायें वह सामान्य। इसी प्रकार सब में समझना चाहिए।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

सूत्रार्थ—यतः=जिससे, द्रव्गुणकर्मसु=द्रव्य, गुण, कर्म में, सद्-इति=उसी की सद्रूपता हो, सा=वह, सत्ता=सत्ता है।

व्याख्या—जिन द्रव्य, गुण, कर्म में यह प्रतीति होती हो कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है वही सत्ता कही जाती है। जैसे मिट्टी में मिट्टीपन दिखाई दे, तो वह मिट्टी की सत्ता हुई और सोने में सुनहलापन स्वर्ण की सत्ता हुई। इसी प्रकार सब वस्तुओं में सत्ता होती है।

द्रव्यगुण कर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मभ्यः=द्रव्य, गुण कर्म से, सत्ता=अस्तित्व में, अर्थान्तरम्=भिन्नता है।

तीनों में नहीं पाई जाती । यदि सत्ता एक द्रव्य में भी होती तो उस द्रव्य की भाँति यह भी बुद्धि की प्रतीति मे अवश्य आती । परन्तु बुद्धि की प्रतीति में आने से यही मानना होगा कि सत्ता इन तीनों से भिन्न है ।

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

सूत्रार्थ—गुणकर्मसु=गुण कर्म में, भावात्=रहने से, न कर्म= वह कर्म नहीं है, च=और, न गुणः=गुण भी नहीं है ।

व्याख्या—सत्ता को द्रव्य तो कह ही नहीं सकते, क्योंकि उसमें द्रव्य के लक्षण नहीं मिलते । वह गुण और क्रिया भी नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयं गुण और कर्म के आश्रय में रहती है । जो, किसी के आश्रय में रहे, वह उसके समान नहीं हो सकता । जैसे, कोई किसी के शरणागत है, वह उसी के पास रहता है । वहाँ रहने से लोगों को भ्रम हो सकता है कि आश्रयदाता यही होगा । परन्तु, यथार्थ में आश्रयदाता नहीं, आश्रित होता है और जो आश्रित हैं वह अपना भरण-पोषण करने में भी असमर्थ होने से आश्रय के समान गुण वाला नहीं हो सकता । इस प्रकार, जो सत्ता, द्रव्य, गुण और कर्म के आश्रित है, वस द्रव्य, गुण या कर्म नहीं सकती और न उनके समान ही हो सकती है, बल्कि द्रव्य, गुण, कर्म तीनों से अलग समझनी चाहिए ।

सामान्य विशेषभावेन य ॥१०॥

सूत्रार्थ—च=और, सामान्य विशेषः=सामान्य या विशेष धर्मके, अभावेन=अभाव से उसका पृथक होना सिद्ध है ।

व्याख्या—द्रव्य, गुण, कर्म में सामान्य होना या विशेष होना पाया जाता है । । जैसे मिट्टी सर्वत्र सामान्य रूप से पाई जाई है, परन्तु यह मिट्टी चिकनी है, ऐसा कहने से उसमें जो चिकनापन है वह मिट्टी की

विशेषता सिद्ध करता है। गुण शब्द सर्वत्र सामान्य है, परन्तु यह रूप है, यह गन्ध हैं इत्यादि गुण-भेद से वे अलग-अलग हैं। फिर कोई कहे कि 'यह भवन सुन्दर है' अथवा यह काला-कुरुप है। ऐसा कहने से भवन के रूप में सुन्दरता विशेष है और 'काला-कुरूप' भी विशेषता सूचक है। इसी प्रकार, कर्म शब्द सामान्य है, परन्तु यह पाप-कर्म है अथवा इसने पुण्य किया है। यहाँ पाप अथवा पुण्य कहा जाने से कर्म की विशेषता हो गई। इसलिए सूत्रकार ने सिद्ध किया है कि द्रव्य, गुण और कर्म में तो सामान्य और विशेष होता है, परन्तु सत्ता में न तो सामान्यता पाई जाती है और न बिशेषता। इन दोनों का अभाव होने से भी सत्ता का द्रव्य, गुण, कर्म से अलग होना सिद्ध होता है।

कनेकद्रव्यत्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ।।११।।

सूत्रार्थ—अनेक द्रव्यत्वेन=अनेक द्रव्योंमें रहने वाला, द्रव्यत्वम्=द्रव्यपन, उक्तम्,=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे द्रव्य, गुण कर्म में उनसे अलग सत्ता रहती है, उसी प्रकार अनेक द्रव्यो में द्रव्यत्व रहता है, जिससे द्रव्य का गुण और कर्म से अलग पहिचाना जा सके। अर्थात् द्रव्यों में जो द्रव्यपन होता है वह भी सामान्य या विशेष नहीं होता। इसलिए उसका नित्य होना माना जाता है।

सामान्यविशेषाभावेन च ।।१२।।

सूत्रार्थ—सामान्य=सामान्य च=और, विशेष=विशेष के अभावेन=न होने से भी यही मान्यता ठीक है।

व्याख्या—कर्म में कर्मत्व, गुण में गुणत्व और द्रव्य में द्रव्यत्व सामान्य अथवा विशेष रूप से रहते हैं, परन्तु, सत्ता में वैसी सामान्यता या विशेषता नहीं हैं, इसलिए सत्ता उन तीनों से भिन्न है। इसी प्रकार द्रव्यत्व में सामान्य या विशेष का अभाव होने से द्रव्य भी गुण और कर्म से अलग हैं।

गुणेषु भावात् गुणत्वमुक्तम् ।१३।।

सूत्रार्थ—गुणेषु=गुणों में, भावत्=होनेसे, गुणत्वम्=गुणत्व, उक्तम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे सब द्रव्यों में द्रव्यत्व रहता हैं और वह द्रव्य, गुण कर्ममें अलग हैं, वैसे ही सब गुणोंमें रहने वाला गुणत्व भी द्रव्य, गुण, कर्म से अलग मानना चाहिए। क्योंकि, गुणों का गुणत्व भी सत्ता के सामाम हैं नित्य कहा गया है।

सामान्यं विशैषाभावेन च ।।१४।।

सूत्रार्थ—च=और सामान्यविशेष:=सामान्य विशेष के, अभावेन =न होने से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—द्रव्य, गुण, कर्म के समान सामान्य और विशेष गुणत्व में नहीं होते और इस प्रकार सामान्य और विशेष के न रहनेसे गुणत्व का द्रव्यादि में अलग होना सिद्ध होता है। क्योंकि द्रव्य में द्रव्यत्व, गुण में गुणत्व और कर्ममें कर्मत्व यह तीनों ही पृथक्-पृथक् तथामित्य और सामान्य, विशेष से रहित हैं।

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ।।१५।।

सूत्रार्थ—कर्मसु=कर्म में, भावात्=होने से, कर्मत्वम्=कर्मत्व, उक्तम=कहा गया है।

व्याख्या—प्रत्येक कर्म से रहने वाले को कर्मत्व कहा गया है, प्रत्येक कर्म में रहने से कर्मत्व को सामान्य ही मानना होगा। इस प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व जातियों के सतान कर्मत्व जाति भी द्रव्य गुण से अलग ही हैं। क्योंकि यह जाति ही एक दूसरे से अलग करने वाली है। इस प्रकार यह तीनों जातियाँ ही अलग-अलग हैं।

सामान्यविशेषाभावेन च ।।१६।।

सूत्रार्थ—च=और, सामान्यविशेष:=सामान्य विशेष का, अभावेन=अभाव होने से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि कर्म में रहने वाला कर्मत्व, कर्म में रहने वाले सामान्य और विशेष वाला होता तो द्रव्य, गुण, कर्ममें उसकी गणना होती, परन्तु, कर्मत्व में सामान्य और विशेष नहीं है, इसलिये यह तीनों से पृथक् है ऐसा स्पस्ट सिद्ध होता है।

सदिति लिगाविशेषादविशेषलिगाभावाच्चैको
भाव: ॥१७॥

सूत्रार्थ—सत्-इति-लिङ्ग-अविशेषात्=विशेषता वाले लक्षण के होने से, च=और विशेषलिङ्गाभावात्=और विशेष लक्षण के न मिलने से, भाव:=सत्ता जाति, एक:=एक है।

व्याख्या—सत्ता का अर्थ है 'अस्तित्व'। कोई वस्तु प्रत्यक्ष है तभी उसकी सत्ता है। वस्तु का अस्तित्व साधारण तौर पर सब जगह पाया जाता है। इसलिए वह सामान्य है, उसे विशेष नहीं कह सकते और द्रव्य, गूण, कर्म की सत्ता जाति एक-सी है। यदि उसमें कोई भेद होता तो भिन्नता के भी लक्षण दिखाई देते। परन्तु ऐसा नहीं होने से और कोई विशेष लक्षण न मिलने से तीनों की सत्ता जाति समान है तथा सामान्य धर्म वाली।

॥ प्रथमोऽध्याय:—द्वितीयाह्निकं समाप्त ॥

# द्वितीयोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥१॥

सूत्रार्थ—पृथिवी =पृथिवी, रूपरसगन्ध=रूप, रस, गन्ध और स्पर्श धर्म वाली है।

व्याख्या—पृथिवी में रूप, रस, गन्ध स्पर्श यह गुण हैं। परंतु यह गुण मिले हुए कहे गये हैं, यदि अलग-२ कहें तो रूप अग्नि का गुण है, रस जल का गुण, गन्ध, पृथिवी का गुण और स्पर्श वायु का है। यहाँ संयुक्त गुण इसलिए कहे हैं कि पञ्चभूत संयुक्त हैं और पृथिवी उन सब में अत्यन्त स्थूल है, इसलिए पृथिवी में सभी के गुणों का आभास मिल जाता है। अतः पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सभी गूणों का समावेश मानना चाहिए।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥

सूत्रार्थ—आपः=जल, द्रवा,=पतला, स्निग्धाः=चिकना तथा रूपरसस्पर्शवत्यः=रूप, रस, स्पर्श वाला है।

व्याख्या—जल पतला और चिकना होता है, इसीलिए बहने वाला हैं। उसमें रूप, रस और स्पर्श यह तीनों गुण हैं। पानी दिखाई देने से रूप वाला है, पीने से ठण्डा, उष्ण, खारा, मीठा मालूम हो जाता है, इसलिए रस है और छूने से ठण्डा या गर्म का पता लग जाता है। इसलिए जल में अग्नि और वायु के गुणों का भी समावेश है।

तेजो रूप स्पर्शवत् ॥३॥

सूत्रार्थ—तेजः=अग्नि, रूपस्पर्शवत्=रूप और स्पर्श के समान

व्याख्या—अग्नि के रूप तो है ही, स्पर्श गुण भी है। अग्नि प्रत्यक्ष दिखाई देती है इसलिए रूप गुण वाली है और उसको छूने से ही जल जाता है, इससे स्पर्श गुण भी प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार अग्नि में वायु के गुण का समावेश हो जाता है या यों कहिए कि अग्नि की लपटों के स्पर्श से गर्म हुआ वायु गर्म स्पर्श वाला हो जाता है, इससे भी अग्नि में स्पर्श गुण होना सिद्ध होता है।

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

सूत्रार्थ—वायुः=वायु, स्पर्शवान्=स्पर्श वाला है।

व्याख्या—वायु का गुण, स्पर्श है। उसमें जो ठन्डक होती है, वह जल के संयोग से और गर्मी है, वह अग्नि के संयोग से है, क्योंकि शीत या उष्ण वायु का लक्षण नहीं है। वायु में रूप नहीं होता, इसलिए यह दिखाई नहीं देता। जैसे, कहते हैं कि आज हवा बड़ी ठण्डी लग रही है, तो इस अनुभव से वायु का ठण्डा होना जल के संयोग के कारण ही समझना चाहिए और गर्म लू का चलना तेज धूप से होता है।

ते आकाशे न विद्यते ॥५॥

सूत्रार्थ—ते=वे गुण, आकाशे=आकाश में विद्यते=विद्यमान, न=नहीं हैं।

व्याख्या—रूप, रस, गुण, स्पर्श जो गुण कहे हैं वे आकाश में नहीं रहते। आकाश में जो नीलापन दिखाई देता है यह जल के कणों का है। आकाश पञ्चभूतों में सबसे सूक्ष्म है, इसलिए उसमें उन चारों भूतों के गुणों का समावेश नहीं हो सकता, ऐसा क्यों होता है जबकि

सूक्ष्म द्रव्य में स्थूल द्रव्य आ जाय। जैसे पानी ठण्डा होता है, परन्तु अपने से सूक्ष्म अग्नि के संयोग से गर्म हो जाता है, परन्तु अग्नि की उष्णता पानी से ठण्डी नहीं हो सकती। विभिन्न तत्वों के गुण मिलने से ही उसमें विशेष गुण होने की प्रतीति होती है। परन्तु, इससे सिद्ध होता है कि आकाश में अन्य तत्वों के गुण नहीं मिल पाते।

सर्पिर्जपुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद्द्रव्यत्वमद्भः
सामान्यम् ॥६॥

सूत्रार्थ—सर्पिर्जपुमधूच्छिष्टानाम्=घृत, लाख, मोम में, अग्नि संयोगाद्=आग के संयोग से, द्रवत्वम्=द्रवता अर्थात् बहने का रूप पतलापन हो जाता, अद्भिः=जल में यह सामान्यम्=सामान्य है।

व्याख्या—जल का सामान्य गुण पतला होना है, परन्तु घी, लाख और मोम आदि पदार्थों में यह गुण स्वाभाविक रूप से नहीं होता। जब इन पदार्थों को आग पर गर्म किया जाता है, तभी यह इसलिये वहना या पतला होना इनका सामान्य धर्म नहीं माना जा सकता।

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद्द्रवत्वमद्भिः
सामान्यम् ॥७॥

सूत्रार्थ—त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानाम्=राँग, सीसा, लोहा, चांदी स्वर्ण में अग्निसंयोगात्=आग के संयोग से है, द्रवत्वमद्भिः=पानी में यह गुणसामान्य रूप से है।

व्याख्या—राँग, सीसा आदि धातुएं भी आग पर ही पिघल सकती हैं, इसलिए पतलापन इनका गुण नहीं है। परन्तु पानी में

पतलापन साधारणतया विद्यमान रहता है। पानी का जम कर बरफ हो जाना विद्युत संयोग से होता है, क्योकि, जल का स्वाभाविक गुण पतला होता है, जमना नहीं है।

विषाणी ककुद्वान् प्रान्ते वालधिः सास्नावान् इति गोत्वे इष्टं लिंगम् ॥८॥

सूत्रार्थ—विषाणी=सींग, ककुद्वात्=कन्धे के कूबड़ वाली, प्रान्ते वालधिः=पूँछ के अन्त से बाल वाली सास्नावान्=गले के नीचे लटकती हुई खाल वाली होना, इति=यह, गोत्वे=गऊपन के, इष्टम् प्रत्यक्ष, लिंगम्=यक्षण हैं।

व्याख्या—गौ के लक्षण कहे हैं सींग कन्धे का कुबड़, पूँछ के नीचे की ओर बाल, गले के नीचे लटकती हुई खाल आदि गऊ के इन लक्षणों को ही गऊपन कहा गया है।

स्पर्शश्च वायोः ॥९॥

सूत्रार्थ—स्पर्शः=छूना, च=ही, वायोः=वायु का गुण है।

व्याख्या—जैसे, गऊ में सींग आदि लक्षण के गऊपन होना कहा है, वैसे ही, वायु का लक्षण स्पर्श कहा है। क्योंकि वायु प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता, परन्तु शरीर को उसके चलने न चलने का अनुभव होता है, वैसे वायु के चार लक्षण माने जाते हैं—स्पर्श कम्प धृति 'शब्द' कहा। तिनका आदि को उड़ाकर ले जाना ही धारण करना है, इससे 'धृति' समझना और वृक्ष आदि की शाखा हिलाना यह 'कम्प' है।

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥१०॥

सूत्रार्थ—स्पर्शः=स्पर्श, दृष्टानाम्=पृथिवी आदि का

न=नहीं, इति=यह, वायुः=वायु का, च=ही, अदृष्टलिंगः=दिखाई न देने वाला चिह्न है।

व्याख्या—यदि यह शङ्का करें कि स्पर्श तो पृथिवी आदि का गुण है, तो सूत्रकार उत्तर देते हैं, कि यह शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि स्पर्श वायु का ही गुण है, पृथिवी आदि का नहीं है। जल का स्पर्श शीतल, अग्नि का गर्म पृथिवी का गर्म न ठण्डा स्पर्श है, परन्तु वायु का स्पर्श न गर्म न ठण्डा अपाकज होने से बिलक्षण हैं। इसलिए, इस स्पर्श को वायु का लक्षण मानना चाहिए।

अद्रव्यवत्वेन द्रव्यम् ॥११॥

सूत्रार्थ—अद्रव्यवत्वेन=भिन्न द्रव्य का आश्रय होने से, द्रव्यम्=वायु द्रव्य हैं।

व्याख्या—पृथिवी आदि के समान ही वायु भी द्रव्य है क्योंकि, वह भिन्न द्रव्य का आश्रय है। यद्यपि वायु का द्रव्य होना प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान से ही माना जाता है। जैसे गुण, कर्म आदिका आश्रय होनेसे पृथिवी द्रव्य हैं, वैसे ही स्पर्श और क्रिया का आश्रय होने से वायु का द्रव्य होना सिद्ध होता है।

क्रियावत्वाद् गुणवत्वाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थ—क्रियावत्वात्=क्रिया वाला होने से, च=और, गुणत्वात्=गुण वाला होने से वायु का द्रव्य होना सिद्ध है।

व्याख्या—जिसमें क्रिया और गुण है, वह द्रव्य है और वायु में स्पर्श गुण तथा क्रिया यह दोनों हैं, इसलिए वायु के द्रव्य होने की भी अमान्यता नहीं बनती। क्योंकि गुण-कर्म के आश्रित गुण, कर्म नहीं हो सकते, वे द्रव्य के ही आश्रित हो सकते है।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥

सूत्रार्थ–अद्रव्यत्वेन=वायु का कारण अद्रव्य होनेसे, नित्यत्वम्=वायु का नित्य होना, उक्तम्=कहा गया है।

व्याख्या–वायु नित्य अर्थात् नष्ट होने वाला है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति किसी द्रव्य से नहीं हुई। पृथिवी आदि तो अवान्तर प्रलय में अपने-अपने कारण द्रव्य में लीन हो जाते हैं, परन्तु, वायु की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है, अर्थात् प्रलय काल में वायु लीन नहीं होता। इससे वायु का नित्य होना सिद्ध होता है। क्योंकि अनित्य वस्तु की स्थिति निरन्तर एक जैसी नहीं रह सकती।

वायोर्वायु सम्मूर्च्छनं नानात्वे लिङ्गम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—वायोर्वायु समूर्च्छनम्=वायु का वायु से भिन्न चलना, उनके, नानात्वे=अनेक होने का, लिंगम्=लक्ष है।

व्याख्या—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि विभिन्न दिशाओं से चलता हुआ वायु भभूड़ा (चक्र) बनकर घूमता हुआ ऊपर उठने लगता है। उस समय प्रतीत होता है कि एक वायु, दूसरे वायु को उठा कर ऊपर ले जा रहा है। यद्यपि वायु प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, परन्तु तृण या धूल के ऊपर उठने से उसका अनुमान होता है। एक दिशा से चलता हुआ वायु दूसरी दिशा से चलने हुए वायु से टकरा कर उसे रोकता है इससे वायु का अधिक होना सिद्ध होता है।

वायुसन्निकर्षेप्रत्यक्षाऽभावात्दृष्टंलिङ्गं न विद्यते ॥१५॥

सूत्रार्थ—वायुसन्निकर्षे=वायु सम्बन्ध का, प्रत्यक्षाऽभावात्=प्रत्यक्ष अभाव होने से, दृष्टम्-स्पर्श दृष्ट, लिंगम्=चिह्न, न विद्यते=नहीं है।

व्याख्या–वायु केसम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता, इसलिए उसका लक्षण स्पर्श भी दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, स्पर्श भी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता वल्कि अनुभव से ही जाना जाता है। यदि यह कहें कि प्रत्यक्ष नहीं तो लक्षण भी नहीं हो सकता ? इसका समाधान यह है कि वायु वाहरी इन्द्रियों से नहीं दिखाई देता परन्तु, त्वचा द्वारा उसके स्पर्श का अनुभव होता है, इसलिए, वह भी प्रमाण ही है।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥१६॥

सूत्रार्थ—च=और, सामान्यतोदृष्टात्=सामान्यतोदृष्ट (अनुमान प्रमाण) से, अविशेषः=सामान्य रूप से ही वायु की सिद्ध है।

व्याख्या—वायु द्रव्य है और दिखाई न देने वाला है, इसलिए उसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती हैं क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं हैं, परन्तु उसका अनुभव त्वचा के स्पर्श होने से होता है उसका अस्तित्व तो मानना ही होगा।

तस्मादागमिकम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—तस्मात्=प्रमाणानुसार, आगमिकम्=वायू की सिद्धि वेद से भी हैं।

व्याख्या—वायु का होना अनुमान से तो सिद्ध है ही, वेद ने भी वायु की सत्ता को माना है और उसे नित्य द्रव्यों के अन्तर्गत कहा है।



यजुर्वेद (३१—१२) में "प्राणाद्वायुरजायत" अर्थात् "प्राण-से सिद्धि

संज्ञाकर्म त्वस्मष्टिशिष्टानां लिङ्गम् ।।१८।।

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, संज्ञा कर्म=संज्ञा और कर्म, अस्मद्विष्टानाम् =उन विशिष्टों का, लिंगम्-लक्षण है।

व्याख्या—नाम और कर्म ही विशिष्ट व्यक्तियों को विशेषताओं को प्रकट करते हैं। वेदार्थ कर्त्ता ऋषियों के नाम वेद मन्त्रों के साथ आने से उनके द्वारा कही गई शाखाओं, उपनिषदों, वेदाङ्गों से प्रत्यक्ष है कि नाम और कर्म के द्वारा ही प्रसिद्धि होती है। इसका आशय यह भी है कि जो लोग शुभ कर्म करते हैं, उनकी प्रशंसा होती है और बुरे कर्म करने वालों की निन्दा होती है और वे बदनाम हो जाते हैं। इसलिए अच्छे कर्म करने चाहिए।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वाद् संज्ञाकर्मणः ।।१९।।

सूत्रार्थ—संज्ञाकर्मथ,=संज्ञा और कर्म वाले को प्रवृत्तत्वात्=सब वस्तुओं की प्रवृत्ति होनेसे, प्रत्यक्ष=प्रमाण है।

व्याख्या—जिसे, जिस वस्तु का नाम मालूम हो और उस वस्तु को बता सकता हो, वही उस विषय का जानने वाला है। मोक्ष आदि का ज्ञाता ईश्वर है, वही सब वस्तुओं का नाम रखने वाला और प्रवर्त्तक है, इसलिए वही उनके साधन भी कह सकता है। उन साधनों का उल्लेख वेदों में है और उनके संज्ञा तथा कर्म का उपदेश भी वेदों से ही प्राप्त हो सकता है।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ।।२०।।

सूत्रार्थ—निक्रमणम्=बाहर निकलना, प्रवेशनम्=एविष्ट होना, इति=यह कार्य, आकाशस्य=आकाश के लिंगम्=लक्षण हैं।

व्याख्या—आकाश का अर्थ है—आकाश का स्थान, जैसे द्वार आदि। दीवार में तो कोई जाना-आना नहीं कर सकता, दरवाजे से ही घुस सकता या निकल सकता है। इस प्रकार आकाश के लक्षण कहे हैं। कूप, घडा आदि में भी जो स्थान होता है वह आकाश कहा जाता है। घड़े में भी आकाश होना मानते हैं।

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात्कर्मणः ॥२१॥

सूत्रार्थ—तत्=वह बाहर निकलता या घुसना रूप, कर्मणः= कर्म, एकद्रव्यत्वात्=एक द्रव्यके होने से, अलिगम्=आकाश के लक्षण नहीं हो सकते।

व्याख्या—निकलना और घुसना रूप, स्पर्श वाले द्रव्यों के हैं और आकाश अस्पर्श है, इसलिए यह लक्षण प्रकाश के नहीं हैं। कर्म तो द्रव्य के सहारे रहता है। जो द्रव्य प्रत्यक्ष है उसी में क्रिया है। आकाश प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए वह क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए निकलना, प्रविष्ट होना रूप कर्म आकाश के चिह्न नहीं माने जा सकते।

कारणान्तरानुक्लृप्ति वैधर्म्याच्च ॥२२॥

सूत्रार्थ—च=और, कारणान्तरानुक्लृप्ति=उसमें, कारण का अन्तर होने तथा वैधर्म्यात्=विरूपता होने से, आकश का वह लक्षण नहीं है।

व्याख्या—आकाश समवाय रहित है, इसलिए वह किसी वस्तु का समवायि-कारण भी नहीं हो सकता। इसलिए घुसना निकलना यह दोनों कर्म आकाश के सिद्ध करने में प्रमाण नहीं माने जा सकते। कारण भाव नहीं, वह कार्य को उत्पन्न ही नहीं कर सकता। समवायि का अर्थ संयोग है, यह पहले बता चुके हैं। आकाश किसी से संयुक्त नहीं है, इसलिए उसे समवाय-रहित कहा गया है।

संयोगादभाव: कर्मण: ॥२३॥

सूत्रार्थ—संयोगात्=संयोग के, अभाव:=न होने से, कर्मण:= कर्म या आकाश नहीं है।

व्याख्या—आकाश कर्म का निमित्त कारण भी नहीं है। निमित्त कारण उसे कहते हैं, जो किसी कार्य' के हेतु हो। यदि कहे कि कर्म ही आकाश का कारण है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि कर्म समवायि, असमवायि निमित्त कोई भी कारण नहीं। इसलिए, कर्म के द्वारा आकाश की सिद्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती। फिर कर्म तो स्वयं उत्पन्न होने वाला भी नहीं है, क्योंकि कर्म की उत्पत्ति कर्त्ता के द्वारा होती है कर्त्ता के कार्य से विरत होने पर कर्म नष्ट हो जाता है।

कारणगुणपूर्वक: कार्यगुणदृष्ट: ॥२४॥

सूत्रार्थ—कार्य गुण:=कार्य रूप गुण, कारण गुण, पूर्वक, कारण भूतगुण से; दृष्ट:=प्रकट होता है।

व्याख्या—कारण से कार्य की उत्पत्ति है। जैसा कारण होगा उससे वैसा ही कार्य उत्पन्न होगा। मिट्टी से घड़ा बनेगा, वस्त्र नहीं बनेगा, लाल रङ्ग के पदार्थ से लाल रङ्ग की वस्तु ही तैयार होगी, नीले, पीले या अन्य रङ्ग की नहीं होगी। जो गुण कारण में होंगे, वही गुण कार्य में होंगे। इससे यही सिद्ध होता है कि कारण होगा तो कार्य होगा अन्यथा नहीं हो सकता।

कार्यान्तराऽप्रादुर्भावाच्छब्द: स्पर्शवतामगुण: ॥२५॥

सूत्रार्थ—शब्द:-शब्द, स्पर्शवताम् अगुण:-पृथिवी आदि का गुण नहीं है क्योंकि, कार्यान्तरा=कार्य के अन्तर से, अप्रादुर्भावाद्= उत्पत्ति होने से ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—पृथिवी आदि के रूप गुण आदि में अन्तर नहीं होता,

वे सब समान रूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिए शब्द को पृथिवी, तेज, जल, वायु का गुण नहीं मानते हैं। यदि शब्द इनका गुण होता तो वह समान रहता, कभी-कभी तीव्र से तीव्र और मन्द से मन्द नहीं हो पाता।

परत्र समवायात्प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥२६॥

सूत्रार्थ—परत्र=शब्द आत्म द्रव्य में, समवायात्=संयुक्त रहने से आत्म गुणः=आत्मा का गुण, न=नहीं है, च=और प्रत्यक्षत्वात्=प्रत्यक्ष होने से, मनोगुण=मन का गुण ( भी ), न=नहीं है।

व्याख्या—आत्मा के गुण ज्ञान आदि किसी बाहरी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होते और शब्द कान से सुनाई देता है, इसलिए वह आत्मा का भी गुण नहीं हो सकता। मन के जो गुण हैं, वह भी प्रत्यक्ष नहीं हैं; परन्तु शब्द प्रत्यक्ष है, उसे मन का गुण भी नहीं कह सकते। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द आत्मा का या मन का भी गुण नहीं है।

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥२७॥

सूत्रार्थ—परिशेषात्=परिशेष से, आकाशस्य=आकाश का लिङ्गम=लक्षण हैं।

व्याख्या—परन्तु शब्द गुण है, इसलिए, उसको किसी द्रव्य का आश्रित होना चाहिए। वह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु का गुण नहीं है तो उसे आकाश का गुण मानना होता और परिशेष अनुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का ही लक्षण है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२८॥

सूत्रार्थ—वायुना=वायुना=वायु जैसा ही, आकाश का द्रव्यत्व द्रव्यपन है, नित्यत्वे=उसका नित्य होना, व्याख्याते=कहा गया है। वायु नित्य है, उसी प्रकार आकाश नित्य है, क्योंकि उसकी सत्ता किसी अन्य वस्तु के द्वारा नहीं है। शब्द इसका गुण है, इसलिए यह द्रव्य है।

तत्वं भावेन ॥२९॥

सूत्रार्थ—भावेन=सत्ता के समान आकाश भी, तत्वम्=तत्व है।

व्याख्या—जैसे द्रव्य, गुण कर्म में विद्यमान सत्ता तत्व है, वैसे आकाश भी एक तत्व है। क्योंकि आकाश न तो परमाणुओं के संयोग से बना है और न उसमें अन्य द्रव्यों का समावेश ही है। इसलिए आकाश एक ही तत्व ही है।

शब्दलिंगाऽविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च ॥३०॥

सूत्रार्थ—शब्दलिंगाऽविशेषात्=शब्द, रूप को विशेषता न होने से च=और, विशेष लिंगाभावात्=विशेष लक्षण का अभाव होने से आकाश का होना सिद्ध है।

व्याख्या—शब्द ही आकश का रूप है, इसलिए वह सामान्य है, उसमें कोई विशेषता नहीं है और जब उसमें कोई विशेष लक्षण नहीं है, तब उसके अनेक होने का भी प्रश्न नहीं उठता। इसलिए, आकाश एक है, यही सिद्ध होता है।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वञ्चेति ॥३१॥

सूत्रार्थ—च=और तदनुविधानात्=इस प्रकार का

विधान होने से, एकपृथक्त्वम् एक पृथकत्व भी है।

व्याख्या—आकाश शब्द का समवाय कारण है, इसलिए उसमें संयोग और विभाग की भी सम्भावना होती है। सत्ता के समान प्रत्येक में रहने पर भी वह एक है और जो एक होगा, वह मिलेगा भी और अलग भी होगा। आकाश एक तो है ही, साथ ही विभु होने से, सबसे बड़ा भी है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु का एक कहा जाना ही उसके पृथक् होने का सूचक है इससे सिद्ध होता है कि आकाश शब्द आश्रय होने से, उसका समवाय कारण हैं और शब्द आकाश का ही गुण है। इस प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि का लक्षण कहा गया है तथा इस सूत्र में 'इति' पद आह्निक की समाप्ति का सूचक है।

॥ द्वितीयोऽध्यायः-प्रथम आह्निक समाप्त ॥

# द्वितीयोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणाराऽप्रादुर्भावो वस्त्रे
गन्धाऽभावालिगम् ॥१॥

सूत्रार्थ—पुष्पवस्त्रयोः=फूल और कपड़े का सन्निकर्षे=पारस्परिक संयोग, सति=होनेपर, वस्त्रे=कपड़े में, गन्धाऽभाव-लिंगम्=गन्ध का अभाव रूप लक्षण है, गुणान्तराऽप्रादुर्भावो=उसमें गुण का अन्तर उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्या—कार्य-गुण से भिन्न को गुणान्तर कहते हैं, जैसे कपड़े के अवयव रूप धागों का गुण ठण्डा या गर्म होना नहीं है, वैसे ही गन्ध भी उनका स्वाभाविक गुण नहीं है। फूल में जो गन्ध है वही कपड़े में

बस जाता है और प्रतीत यह होता है कि कपड़े में ही गन्ध है। इसी प्रकार गन्ध जल आदि का भी स्वाभाविक गुण नहीं हो सकता।

व्यवस्थितः पृथिव्याः गन्धः ॥२॥

सूत्रार्थ—गन्धः=गन्ध, पृथिव्याम्=पृथिवी का, व्यवस्थितः= स्वाभाविक गुण है।

व्याख्या—पृथिवी का स्वाभाविक गुण गन्ध है। क्योंकि उसमें जल, तेज, वायु के परिणाम भी मिले हुए हैं इसलिए पृथिवी में अपने गुण के अतिरिक्त इन तत्वों के गुण भी पाये जाते हैं, परन्तु गन्ध ही ऐसा गुण है जो पृथिवी को दूसरे द्रव्यों से अलग सिद्ध करता है।

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥३॥

सूत्रार्थ—एतेन=इसी प्रकार, उष्णता=गर्मी, व्याख्याता कही गई है।

व्याख्या—जैसे पृथिवी का गुण गन्ध कहा है, वैसे ही अग्नि का गुण उष्णता समझा चाहिए। जैसे गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है, वैसे ही उष्णता अग्नि का स्वाभाविक गुण है। यदि कहें कि लोहा भी गर्म होते देखा जाता है और उससे हाथ-पाँव आदि जल जाते हैं। परन्तु लोहे में गर्मी अग्नि के संयोग से ही होती है।

तेजस उष्णाता ॥४॥

सूत्रार्थ—तेजस=अग्नि का गुण उष्णता=गर्मी है।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र में गन्ध के समान ही उष्णता को गुण माना है। परन्तु इस सूत्र में स्पष्ट कर दिया है कि उष्णता अग्नि का गुण है। पृथिवी या जल आदि में जब कभी उष्णता प्रतीत होती है, वह अग्नि के ही संयोग से होती है।

अप्सु शीतता ॥५॥

सूत्रार्थ—अप्सु=जल का स्वाभाविक गुण, शीलता=ठण्डा होना है।

व्याख्या—जैसे पृथिवी का गुण गन्ध और अग्नि का गुण उष्णता है, वैसे ही जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काल लिङ्गानि ॥६॥

सूत्रार्थ—अपरस्मिन्=अपर (और), नपरम्=पर का ज्ञान युगपत्=एक साथ, चिरम्=देर, क्षिप्रम्-शीघ्रता आदि, इति=यह, कालजिगानि=काल के लक्षण हैं।

व्याख्या—अपर में अपर का ज्ञान और पर में पर का ज्ञान अर्थात् यह पहिला है, यह पिछला है, एक साथ है तथा देर का यह जल्दी का ज्ञान ही काल का लक्षण कहा गया है। जैसे अमुक व्यक्ति देर से आया, अमुक व्यक्ति पहिले आया इससे देर का और पहिले का समय ज्ञान होता है। अमुक-अमुक व्यक्ति साथ-साथ आये इससे दोनों के एक समय आने का ज्ञान होगा। इसी प्रकार और भी समझना चाहिए।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥७॥

सूत्रार्थ—द्रव्यत्व नियत्वे=द्रव्य और नित्य होना, वायुना=वायु के समान ही, व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायुको द्रव्य और नित्य कहा गया है, वैसे ही काल भी द्रव्य और नित्य है, क्योंकि, वह संख्यादि गुणों का आश्रय है, इस लिए उसे द्रव्य कहा है और आवान्तर रचना (सृष्टि रचना) में अजन्मा होने से उसका नित्य होना माना गया है।

तत्वं भावेन ॥८॥

सूत्रार्थ—भावेन=सत्ता के समान, तत्वम्=काल एक ही है।

व्याख्या—जैसे सत्ता, द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहती हुई भी एक ही हैं, वैसे ही काच भी भूत, भविष्यत्, वर्तमान, तीनों में व्याप्त रह कर एक ही है। यदि यह शंका करें कि भूत, भविष्यत्, वर्तमान यह तीनों काल अलग माने जाते हैं तो, वह एक कैसे हुआ? तो इसका समाधान यह है कि भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान यह तीनों काल के विभाग हैं, इसलिए इन्हें अलग-अलग नहीं कह सकते। कपड़ा था, इस प्रकार कहने से कपड़े की बीती हुई अस्वथा का, और कपड़ा है, इससे वर्तमान अवस्था का ज्ञान होता है, इस प्रकार भूत, भविष्यत, वर्तमान का भेद अवस्था भेद से ही है।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति ॥९॥

सूत्रार्थ—नित्येषु=नित्य पदार्थों में अभावात्=न होने से अनित्येषु=अनित्यों में, भावात्=होने से, कालाख्या=काल को भी कारण=मानना चाहिए।

व्याख्या—काल नित्य पदार्थों में नहीं हैं, अनित्य पदार्थों में माना जाता है, इसलिए काल का भी कोई कारण होना ही चाहिए। जैसे आत्मा नित्य पदार्थ है, उसके साथ काल का संयोग नहीं होता, परन्तु अनित्य पदार्थ घड़ा, वस्त्र शरीर आदि के साथ काल का योग होता है, इसलिए अनित्य काल का साथी काल है, और काल को काल ही कहेंगे, क्योंकि, काल का कारण काल ही हो सकता है। अर्थात् भूत 'भविष्व्रत् वर्तमान रूप काल की उत्पत्ति काल से ही है। 'इति' पाद से काल सम्बन्धी विषय का समाप्त होना समझना चाहिए।

इति इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम् ।।१०।।

सूत्रार्थ—इति=यह, इदम् इति=इधर है, यतः=वह उधर है, तत्=वह, दिश्यम्=दिशा का लिङ्गम्=लक्षण है।

व्याख्या—जिससे ऐसा ज्ञान हो कि यह इधर है, वह उधर हैं, इसे दिशा-ज्ञान कहते हैं। साथ हीं पूर्व पश्चिम आदि कहकर भी दिशा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान बहुत सरल है, जैसे-अमुक व्यक्ति पूर्व का रहने, वाला है उससे समझ में आ गया कि वह कहाँ रहता होगा।

द्रव्यत्नित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।११।।

सूत्रार्थ—वायुना=वायु के समान, द्रव्यत्वनित्यत्वे=दिशा का भी द्रव्य और नित्य होना, व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु स्पर्श वाला होने से द्रव्य और अद्रव्य होने से नित्य है, वैसे ही दिशा भी पूर्व, पश्चिम और भेद वाली होने से द्रव्य और कार्य न होने से नित्य हैं, क्योंकि दिशा अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करती। जो किसी दूसरे की अपेक्षा करे, वह वस्तु अनित्य होती है।

तत्वभावेन ।।१२।।

सूत्रार्थ—भावेन=सत्ता के समान, तत्वम्=दिशा एक हैं।

व्याख्या—जैसे, सत्ता को एक कहा गया है, वैसे दिशा भी एक है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे आदि उसके भेद हैं, वैसे वह एक ही है।

कार्यविशेषेण नानात्वम् ।।१३।।

सूत्रार्थ—कार्य विशेषता=कार्य की विशेषताके कारण, नानात्वम् =दिशा अनेक दिखाई देती हैं।

व्याख्या—दिशा एक ही है, परन्तु कार्य की अनेकता के कारण बहुत दिखाई देती हैं। कहने को दिशाऐं हैं, परन्तु वे कार्य के कारण ही ऐसी होती हैं। जैसे एक मनुष्य पूर्व की ओर जाता है, दूसरा मनुष्य उत्तर की ओर जाता है, तो यह उस मनुष्य के अलग अलग ओर जाने के सम्बन्ध से ही भेद मालूम होता है। परन्तु दिशा सब ओर व्याप्त होने से एक ही है।

आदित्संयोगाद्‌ भूतपूर्वाद्‌ भविष्यो भूताच्च
प्राची ॥१४॥

सूत्रार्थ—भूत पूर्वात्=बीते हुए, भविष्यत्=आगे होने वाले, च=और, भूतात्=वर्तमान में होने वाले, आदित्य संयोगात्=सूर्य के सम्बन्ध से, प्राची=पूर्व कहते हैं।

व्याख्या—भूत, भविष्यत, वर्तमान इन तीनों समयों में सूर्य के संयोग से प्राची या पूर्व कहते हैं। अर्थात्-जिधर सूर्य उदय होता है, वह पूर्व है, उदय हुआ यह सूर्य का भूत सम्बन्ध और उदय होगा इसे भविष्य-सम्बन्ध जाना जाता है।

तथा दक्षिणा प्रतीच्युदीची च ॥५॥

सूत्रार्थ—तथा उसी प्रकार, दक्षिण=दक्षिण, प्रतीची=पश्चिम, च=और, उदीचि=उत्तर हैं।

व्याख्या—जैसे सूर्य उदय के सम्बन्ध से पूर्व दिशा है, वैसे ही सूर्य छुपाने वाली दिशा को पश्चिम कहते हैं। सूर्य की ओर मुख करके खड़े होने पर यह दिशा पीठ पीछे रहती है। दाहिनी ओर रहे वह दक्षिण और बांयी ओर रहे वह उत्तर दिशा कही जाती है। इस प्रकार दिशाओं का यह ज्ञान सूर्य के सम्बन्ध से ही होता है।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥१६॥

सूत्रार्थ—एतेन=इन्हीं के सामने, दिगन्तरालानि=कोणों की दिशा, व्याख्यातानि=कही गयी है।

व्याख्या—पूर्व, पश्चिम आदि के समान ही कोणों में स्थित उप-दिशायें मानी जाती हैं। इनकी सिद्धि भी सूर्य से ही होती है।

सामान्य प्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयाः ॥१७॥

सूत्रार्थ—विशेषाप्रत्यक्षात्=विशेष धर्म के अप्रत्यक्ष होने से, सामान्यप्रत्यक्षात्=सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष होने पर, च=और, विशेष-स्मृतेः=विशेष कर्म की स्मृति होने, संशय=संशय रहता है।

व्याख्या—जब किसी विषय की परीक्षा में संशय न हो, तभी उनकी परीक्षा पूर्ण होती है। यदि विशेष लक्षण प्रकट न हों तो सामान्य लक्षण से और उस सम्बन्ध की से भी परीक्षा हो सकती, परन्तु उस परीक्षा में संशय बना रहता है। जैसे कोई पुरुष कपड़े पहिने हुए खड़ा हैं, तो उसके कपड़ों की सामान्यता के बिना चेहरा देखे भी कहेंगे कि यह पुरुष ही है, उसके पुरुष न होने का संशय तभी होगा, जब वह कोई ऐसा कपड़ा पहिने होगा, जिसे साधारण रूप से पुरुष नहीं पहिनते।

दृष्टं च दृष्टवत् ॥१८॥

सूत्रार्थ—दृष्टवत्—सामान्य धर्म के समान, च=ही, दृष्टम्=दिखाई पड़ने वाला धर्म संशय उत्पन्न करने वाला है।

व्याख्या—पहले कभी अनुभव किया और बाद में प्रत्यक्ष हुआ कार्य संशय वाला हो सकता है, कि यह कार्य वही था, या कहीं कोई

पहिले अनुभव किया जा चुका है। अथवा किसी जानवर के सींग दिखाई पड़े तो यह किसके होंगे ? गाय के या हिरन के ? गाय के और हिरन के सींगो के सामान्य-रूपसे बहुत अन्तर होता है और वह अन्तर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसलिए, इसमें सन्देह नहीं होता, परन्तु गाय और नीलगाय के सींगों में, किसके हैं, यह सन्देह हो सकता है।

यथा दृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥१९॥

सूत्रार्थ—च=और, यथादृष्टम्=देखी हुई वस्तु के, अथवा दृष्टत्वात्=वास्तविक रूप में न देखने से संशय होता है।

व्याख्या—पहिले जिस वस्तु को जिस रूप में देखा हो बाद में वह वस्तु दूसरे रूपमें दिखाई दे तो संशय होता है कि यह वस्तु वही है या दूसरी है ? जैसे, पहिले किसी पुरुष को दाढ़ी सहित देखा बाद में उसे दाढ़ी मुड़ाते हुए देखकर संशय हो सकता है कि यह पुरुष कोई दूसरा तो नहीं है।

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥२०॥

सूत्रार्थ–विद्या=विद्या, च=और अविद्यातः=अविद्या से, संशयः =संशय उत्पन्न होता है।

व्याख्या—विद्या और अविद्या से भी संशय उत्पन्न हो जाता है अथवा यों कहिए कि विद्या अर्थात् जानना और अविद्या अर्थात् न जानना-किसी वस्तु के विषय में कुछ जानकारी है, कुछ नहीं है, तो उसके पहिचानने में संशय हो सकता है। हमको कोई बूटी जंगल से लानी है, उसके आकार प्रकार के सम्बन्ध में हमने सुना है, परन्तु पूरी तरह उसकी जानकारी नहीं है, तो उस बूटी को पाकर भी संशय रह सकता है कि यह जड़ी वही है या कोई दूसरी है।

श्रोत्र ग्रहणे योऽर्थः स शब्दः ॥२१॥

सूत्रार्थ—श्रोत्र=कान, यः=जिस, अर्थः=विषय को, ग्रहण=ग्रहण करते हैं, सः=वह, शब्दः=शब्द है।

व्याख्या—शब्द उसे कहते हैं, जिसे कान सुन ले। अथवा शब्द कान से ही सुना जा सकता है। सभी इन्द्रियों के अपने-अपने नियत विषय है नेत्र का कार्य देखना, जिह्वा का कार्य रस ग्रहण करना या आस्वादन करना, त्वचा का कार्य स्पर्श अनुभव करना, हाथों का कार्य बोझ आदि का उठाना अथवा अन्य कार्य करना, पावोंका कार्य चलना-फिरना, नासिका का कार्य सूँघना है, वैसे हीं कानों का कार्य शब्द को ग्रहण करना है। क्योंकि, शब्द नेत्र या अन्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार देखना, सूँघना, रसास्वादन करना, स्पर्श अनुभव करना आदि कार्य कान नहीं कर सकते। वे तो केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकते हैं और शब्द आकाश का गुण है, इसलिए कानों का आकाश तत्व द्वारा उत्पन्न होना माना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द को ग्रहण करने वाले कान ही हैं अथवा यों कहना चाहिए कि कानों का विषय शब्द है उसे कानों के द्वारा ही सुना जा सकता है।

तुल्य जातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा
दृष्टत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—तुल्यजातीयेषु=समान जाति वाले गुणों में, और अर्थान्तर भूतेषु=असमान जाति वाले भूतों में, विशेषस्य=विशेष के धर्म, उभयथा=दोनों प्रकार, दृष्टत्वात्—दिखाई पड़ने से संशय होता है।

व्याख्या—शब्द गुण है या भूत अर्थात् द्रव्य है यह संशय होता है। क्योंकि, शब्द कान से सुना जाता है, इसलिए गुण प्रतीत होता है। जैसे रूप रस आदि गुण इन्द्रियों के विषय हैं, वैसे ही शब्द भी कान से सुना जाने के कारण इन्द्रिय का ही विषय हुआ और द्रव्य हलका-भारी होता है, वैसे ही शब्द भी हलका-भारी होने से उन गुणों का आश्रय रूप द्रव्य मालूम होता है।

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—एकद्रव्यत्वात्=एक द्रव्य होने से शब्द, द्रव्यम्=द्रव्य, न=नहीं है।

व्याख्या—शब्द एक द्रव्य से उत्पन्न होता है और एक द्रव्य में ही रहता है, इसलिए, वह द्रव्य नहीं हो सकता। क्योंकि, कोई कार्य द्रव्य एक द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता, और द्रव्य किसी द्रव्य के सहारे भी नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द द्रव्य नहीं हैं। क्योंकि, एक ही वस्तु के परमाणुओं के मिलाने पर कार्य द्रव्य नहीं बन पाता यह बात विज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है।

नापि कर्माचाक्षुषत्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—अचाक्षुषत्वात्=आँखों से न देखा जाने के कारण, कर्म—कर्म, अपि=भी न=नहीं है।

व्याख्या—शब्द कर्म भीं नहीं है, क्योंकि, कर्म आँख से देखा जाता है। परन्तु शब्द आँख से नहीं देखा जाता, कान से ही सुना जाता है, इसलिए उसे कर्म भी नहीं मान सकते। क्योंकि शब्द में क्रिया हो नहीं सकती, वह तो अभिप्राय प्रकट करने के बाद समाप्त हो जाता है और कर्त्ता उसके अनुसार कर्म करता है।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—कर्मभिः=कर्मके समान, गुणस्य=गुण का, सतोऽपवर्गः=शीघ्र नाश होता है, इसलिए, समानर्यम्=समान धर्म है।

व्याख्या—जैसे, कर्म अपना कार्य पूरा करके स्वयम् नष्ट हो जाता है, वैसे ही शब्द भी बात पूरी करके नष्ट हो जाता है। इसलिए इसे भीं नाशवान कहा है। यहाँ शब्द की गुण से भी समता की गयी है, क्योंकि संख्या आदि गुण नष्ट होने वाले हैं। इस प्रकार शब्द गुण

कर्म नहीं हैं, परन्तु गुण और कर्म के समान माना गया है। क्योंकि उसको उत्पन्न होते और उसके अनुसार कार्य करते हुए लोगों को प्रत्यक्ष देखते हैं इससे सिद्ध होता है कि शब्द, गुण या कर्म न होते हुए भी उनके समान हैं।

सतोलिङ्गाभावात् ॥२६॥

सूत्रार्थ—सतः=शब्द सत् अर्थात् नित्य, लिंगाभावात्=लक्षण के न होने से, नहीं हैं।

व्याख्या—शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि, उसमें नित्य होने के लक्षण नहीं पाये जाते। किसी वस्तु के यथारूप होने में उसमें लक्षणों को प्रमाण माना जाता है। जैसे धुँआ होगा तो वहाँ अग्नि का अस्तित्व भी अवश्य होगा, बिना अग्नि के धुँआ नहीं हो सकता। इसी प्रकार अविनाशी होने के जो लक्षण हैं, उनके न होने पर, उस वस्तु का अविनाशी होना माना ही नहीं जा सकता। अर्थात् जिसमें नित्यत्व है, वही नित्य हो सकता है, जिसमें नित्यत्व नहीं, वह नाशवान् होगा।

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थ—नित्य=अविनाशी से वैधर्म्यात्=विरुद्ध लक्षण वाला होने से शब्द नित्य नहीं हो सकता।

व्याख्या—अबिनाशी के विरुद्ध धर्म होने के कारण उसका अविनाशी होना सम्भव नहीं है। अविनाशी को धर्म हैं—जन्म न लेने और शब्द तो प्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होता और नष्ट होता है; इसलिए शब्द को अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं कह सकते।

अनित्यश्चायं कारणतः ॥२८॥

सूत्रार्थ—च=और, कारणतः=कारण जनित होने से अयम्=यह शब्द, अनित्यः=अनित्य है।

व्याख्या—शब्द की उत्पत्ति कारण से है ढोलक पर थाप पड़ने से शब्द उत्पन्न होता है, जुबान से शब्द निकलता है, किवाड़ खटखटाने से शब्द होता है। इसी प्रकार अन्य बहुत से कारणों से शब्द की उत्पत्ति हैं और जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य हो ही नहीं सकती।

न चासिद्धं विकारात् ॥२९॥

सूत्रार्थ—च=और, विकारात्=विकार से होने के कारण, शब्द की, असिद्धम्=असिद्ध न=नहीं है।

व्याख्या—यह बात सिद्ध है कि शब्द उत्पन्न होने वाला है, वह विकार से उत्पन्न होता है। ढोलक पर जोर की थाप लगाने से उच्च शब्द होगा और हल्की थाप से हल्का शब्द होगा। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति होने से उसका अस्तित्व भी सिद्ध है।

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥३०॥

सूत्रार्थ—अभिव्यक्तौ=अभिव्यक्ति में, दोषात्—दोष होने से शब्द का उत्पन्न होना ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—यदि यह कहें कि शब्द उत्पन्न नहीं होता, प्रकट होता है, तो ऐसा मानना मिथ्या होगा, क्योंकि प्रकट करने वाला और प्रकट होने वाला, दोनों एक स्थान में नहीं रहते और ढोलक से शब्द एक स्थान में ही निकलने से शब्द का प्रकट होना नहीं माना जा सकता। इस प्रकार शब्द का प्रकट होना मानने में दोष के उपस्थित होने से शब्द उत्पन्न होता है, यही मान्यता ठीक है।

संयोगाद्विभागाच्छब्दान् निष्पत्तिः ॥३१॥

सूत्रार्थ—संयोगात्=संयोग से, विभागात्=विभाग से, च=और, शब्दात्=शब्द से शब्दनिष्पत्तिः=शब्द उत्पन्न होता है।

व्याख्या—शब्द तीन प्रकार से उत्पन्न होता है—संयोग से, विभाग से और शब्द से। बाँसुरी, शंख आदि से जो शब्द निकलता है, वह संयोगात्मक है। इसमें बाँसुरी, शंख आदि का मुख से संयोग होता है। वृक्ष के टूटने, धरती के फटने आदि से जो शब्द होता है, वह विभागात्मक है तथा दूर से आने वाले शब्द में संयोग-विभाग का अनुमान न होने से शब्द का उत्पन्न होना कहा गया है।

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥३२॥

सूत्रार्थ—च=और, लिङ्गात्=लक्षण से, शब्दः=शब्द का अनित्यः=अनित्य होना सिद्ध है।

व्याख्या—सब प्रकार से उत्पन्न शब्द समान लक्षण ही हैं। उसमें नित्य होने का लक्षण नहीं है, इसलिए शब्द का अनित्य होना ही सिद्ध है।

द्वयोस्तु प्रवृत्योरभावात् ॥३३॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, द्वयो=दोनों की प्रवृत्योः=प्रवृत्ति, का, अभावात्=अभाव होने से, शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

व्याख्या—गुरु और शिष्य की परम्परा से शब्द का अनित्य होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि गुरु अपने शिष्य को विद्या-दान देता है, तो दान स्थायी वस्तु का ही दिया जाता है, इसलिए शब्द को अनित्य नहीं मान सकते। यदि शब्द स्थायी नहीं होता तो गुरु-शिष्य को पढ़ाने या पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी। इससे सिद्ध होता है कि शब्द नित्य हैं।

प्रथमाशब्दात् ॥३४॥

सूत्रार्थ—प्रथमाशब्दात्....प्रथमा शब्द होने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता हैं।

व्याख्या—यज्ञ प्रकरण में अग्नि उत्पन्न करने सम्बन्धी ऋचाओं में "तासां त्रिः प्रथमामन्वाहत्रिरुत्ताम्" (ऐतरेय ब्राह्मण ३-३) के अनुसार तीन बार प्रथमा के और तीन बार उत्तमा के उच्चारण का निर्देश है। यदि शब्द अनित्य होता तो प्रथमा और उत्तमा ठहरना ही सम्भव न था। नित्य होने से ही शब्द ठहर सकता है, इसलिए शब्द का नित्य होना ही सिद्ध होता है।

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥

सूत्रार्थ—च=और, सम्प्रतिपत्तिभावत्=सम्प्रतिपत्ति से भी ऐसा सिद्ध होता है।

व्याख्या—शब्द के बारम्बार याद आने से भी उसका नित्य होना सिद्ध होता है। यदि शब्द स्थिर न होता तो कही हुई बात की फिर याद नहीं आ सकती थी। जैसे कहते हैं कि पिछली बात को दुहराओ या कल का पाठ आज पुनः पढ़ो। यदि शब्द स्थिर न होता तो पिछली बात कैसे दुहराई जाती या कल का पाठ आज कैसे पढ़ा जाता? इस से सिद्ध होता है शब्द नित्य है, अनित्य नहीं।

संदिग्धः ॥३६॥

सूत्रार्थ—संदिग्धः—यह सब हेतु सन्देह वाले हैं।

व्याख्या—शब्द बहुत होते हैं, यह एक नहीं हैं, इसलिए उन्हें नित्य नहीं कह सकते जो युक्तियाँ दी गई हैं वे अनित्य वस्तुओं को भी सिद्ध कर सकती हैं। गुरु-शिष्य परम्परा, शब्द का याद आना, बार-बार पढ़ना यह तीनों बातें शब्द का नित्य होना सिद्ध नहीं करतीं, यदि आना और बार-बार पढ़ना नित्य है तो चलना फिरना भी नित्य माना जायगा। इसलिए शब्द को नित्य मानना ठीक नहीं है।

सति बहुत्वे संख्याभावः सामान्यतः ।।३७।।

सूत्रार्थ—बहुत्वे=वर्णोंका बहुत्व, सति=है, इसलिए, संख्याभावः—संख्या का होना, सामान्यतः=सामान्य है ।

व्याख्या—संख्या का नियम वर्णों के अभिप्राय से नहीं, जाति के अभिप्राय से हैं । जैसा कि अनेक 'अकार' में 'अ' समान है या । अनेक 'ककार' में 'क' समान है । संख्या का क्रम तो सिखाने के लिए हैं । इस प्रकार वर्णों की संख्या का नियत होना नहीं मानना चाहिए । जब उसकी संख्या को नियत नहीं मानेंगे और उनका असंख्य होना सिद्ध हो तो उनके अनित्य होने में भी असिद्धि नहीं होगी । इस प्रकार शब्द का नित्य होना नहीं मान सकते ।

।। द्वितीयोऽध्यायः–द्वितीयाह्निकम् समाप्तम् ।।

# तृतीयोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥१॥

सूत्रार्थ—इन्द्रयार्थाः–इन्द्रियों के विषय, प्रसिद्धा=प्रसिद्ध है।

व्याख्या—इन्द्रियों के विषय प्रसिद्ध हैं, इसलिए उनकी सिद्धि के लिये प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं हैं। जिन वस्तुओं को कोई न जाने, उनकी सिद्धि के प्रमाण की आवश्यकता होती है। आँखें रूप को देखती है, कान शब्द को सुनते है, जिह्वा रस का स्वाद लेती है, नासिका गन्ध का अनुभव करती है और त्वचासे स्पर्श ज्ञान होता है। जो इन्द्रिय जिस तत्व की अधिकता वाली होती है, वह इन्द्रिय उसी तत्व के गुणों को ग्रहण करती है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है और उनके सम्बन्ध में सबकी जानकारी है कि नेत्र का यह कार्य है, कान का यह कार्य है जिसके नेत्र नहीं वह देख नहीं सकता, कान नहीं, वह सुन नहीं सकता। इसलिए, इस विषय को अधिक सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रयार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥२॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिः=इन्द्रिय और उनके विषयों की प्रसिद्धि। इन्द्रियार्थेभ्यः=इन्द्रिय और विषयों में, अर्थान्तरस्य=विषयों के अन्तर का, हेतुः= कारण है।

व्याख्या—इन्द्रियों और उनके विषयों के कार्यों के प्रसिद्ध होने से उनके विभिन्न कार्यों का नियत होना सिद्ध है। नेत्र का कार्य [illegible]

ही कर सकता है, कान नासिका आदि देख नहीं सकते, इसी प्रकार कान का कार्य सुनना, कान के द्वारा ही हो सकता है, नेत्र से या अन्य इन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार, नेत्र से देखते हैं कि यह मार्ग है, तभी पाँव उस मार्ग पर चलते हैं, कान से सुनते हैं 'इधर आओ' तभी उधर जाना होता है, सुगन्ध का अनुभव करना है तो हाथ से पुष्प को तोड़कर नासिका से लगायेंगे तभी गन्ध का ज्ञान होगा। कोई मिठाई स्वादिष्ट है या नहीं इसका अनुभव जीभ से होगा। सब प्रकार सम्बन्धित विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय के नेतृत्व में सब इन्द्रियाँ कार्य करने लगती है।

सोऽनुपदेशः ।।३।।

सूत्रार्थ—सः=उन नियत विषयों को प्रसिद्धि का आश्रय शरीर को, अनुपदेशः नहीं मानना चाहिए।

व्याख्या—जिस इन्द्रिय के जो नियत विषय है, उसकी प्रसिद्धि का आश्रय शरीर से नहीं है, क्योंकि यह विषय शरीर के आश्रय में नहीं इन्द्रिय के आश्रय में रहते हैं। ज्ञान शरीर का गुण माना गया है, क्योंकि वह आत्मा के आश्रय मे नहीं रहता। पर ज्ञान को शरीर का कार्य माना जाना, उसी प्रकार प्रमाणाभास मात्र है, जैसे प्रकाश दीपक का कार्य होते हुए भी उसके आश्रय में नहीं रहता।

कारणाज्ञानात् ।।४।।

सूत्रार्थ—शरीर के कारण पञ्चभूतों में, अज्ञानात्=ज्ञान के न होने से ज्ञान को शरीर के आश्रित नहीं कह सकते।

व्याख्या—शरीर के कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में ज्ञान नहीं रहता और जो गुण उपादान कारण में होंगे वही गुण उसके कार्य में हो सकते हैं। इससे सिद्ध होता हैं कि ज्ञान शरीर का आश्रित नहीं, आत्मा का आश्रित ही है।

कार्येषु ज्ञानात् ॥५॥

सूत्रार्थ—ज्ञानात्=ज्ञान के होने से, उसका, कार्षेषु=कार्यो में होना सिद्ध नहीं होता ।

व्याख्या—यदि शरीर के कारण भूत पृथिवी आदि में ज्ञान की सत्ता होती तो उन पञ्चभूतों से बने हुए भवन आदि भी वेदना ही होते क्योंकि चेतन से जड़ की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । जड़ का उत्पन्न होना जड़ से ही सम्भव है । जैसे इंट चूना, पत्थर आदि में मिट्टी से गुण पाये जाते हैं; वैसे ही चेतना आत्मा से ज्ञान की प्रवृत्ति पाती जाती है । इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान अचेतन में नहीं, चेतन में रहता है ।

अज्ञानाच्च ॥६॥

सूत्रार्थ—च=और, अज्ञानात्=पञ्चभूतों में अज्ञान होने से भी मान्यता सिद्ध होती है ।

व्याख्या—सभी अचेतन पदार्थ में अज्ञान रहता हैं और यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि कार्य पदार्थ में ज्ञान की उपलब्धि रहती है, क्योंकि, घट-घट में ज्ञान नहीं पाया जाता । जहाँ आत्मा है वहीं ज्ञान हो सकता है, जहाँ आत्मा नहीं वहाँ ज्ञान भी नहीं हो सकता ।

अन्यदेव हेतुरित्यनुपदेश: ॥७॥

सूत्रार्थं—हेतु:=हेतु अन्यत्-एक=भिन्न होता है,=इति इसलिए अनुपदेश:=प्रमाणित नहीं है ।

व्याख्या—जिसका, जिससे सम्बन्ध है, वही उसके प्रमाणित होने में हेतु है और वह हेतु उस वस्तु से अलग होता है । क्योंकि, वृक्षत्व एक ही वृक्ष में नहीं होता, सभी वृक्षों में होता है । इसलिये हेतु स्वयं ही सिद्ध नहीं है ।

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥८॥

सूत्रार्थ—अर्थान्तरं=साध्य से भिन्न, हि=भी, अर्थान्तरस्य=साध्य को सिद्ध करने में, अनपदेशः=प्रमाणिक नहीं है।

व्याख्या—जिसका साध्य से सम्बन्ध हो नहीं, वह उसे सिद्ध किस प्रकार कर सकता है ? जैसे धुँएसे अग्नि का होना तो सिद्ध हो सकता है, परन्तु गाय का होना सिद्ध नहीं हो सकता। यदि गोबर पड़ा हो तो तह अनुमान हो सकता है यहीं कहीं गाय होगी या इधर से गाय निकली होगी। इस प्रकार जिस वस्तु का जिससे सम्बन्ध है वही उसके प्रमाण की हेतु हो सकती है, असम्बन्धित वस्तु प्रमाण नहीं मानी जा सकती।

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥९॥

सूत्रार्थ–संयोगि—संयोगि, समवायि=समवाय, एकार्थ समवायि–एकार्थ समवाय, च–और, विरोधी–विरोधी, यह चार प्रकार के लिंग हैं।

व्याख्या—लिंग चार प्रकार के माने गये हैं; संयोगी, समवाय, एकार्थ-समवाय और विरोधी। जैसे रथोंको देखकर उनके चलानेवालों को चतुर समझा जाय, यह जल संयोगी हैं, दूर से धुँए को देखकर अग्नि के होने का ज्ञान ही समवाय प्रमाण है, जंगल में घोड़े के लक्षण देखकर यह अनुमान कर लेना कि यहाँ घास भी होगी, क्योंकि घोड़ा घास के आकर्षणको देखकर यहाँ आया होगा। यह सब समवाय-दृष्टांत ही है। अब एकार्थ समवाय का लक्षण सूत्रकार स्वयं ही बताते हैं:—

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥१०॥

सूत्रार्थ—कार्यं=एक कार्य, कार्यान्तरस्य=अन्य कार्य का लक्षण

व्याख्या—रूप-कार्य, स्पर्श-कार्य का लक्षण है, इसे एकार्थ-समवाय कहते हैं। जो वस्तु दिखाई देती हैं उसे स्पर्श करने से उसके गुण का पता लग जाता है कि वह ठण्डी है या गर्म है। इस प्रकार एक कार्य दूसरे कार्य की सिद्धि करता है।

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥११॥

सूत्रार्थ—भूतस्य=भूत की सिद्धि में, अभूतम्=अभूत पदार्थ, विरोधी लिंग है।

व्याख्या—उत्पन्न पदार्थ का उत्पन्न न हुए पदार्थ से ज्ञान होना विरोधी लिंग माना गया है। जैसे, बादल घिरने और हवा चलने से वर्षा होने का अनुमान होता है अथवा यों समझना चाहिए कि वर्षा होने से इस बात का अनुमान होता है कि बादल और वायु के मिले बिना वर्षा नहीं हो सकती थी। वह विरोधी दृष्टान्त समझना चाहिए।

भूतमभूतस्य ॥१२॥

सूत्रार्थ—अभूतस्य=अभूत की सिद्धि में, भूतम्=भूत का उदाहरण भी विरोधी लिंग हैं।

व्याख्या—जब वर्षा होती है तो वर्षा को रोकने के लिए हवा चलती है, उस हवा से वर्षा रुक जाती है। वर्षा होते में यह अनुमान होना कि वायु-चलक वर्षा रोकेगी उस समय वायु विद्यमान नहीं थीं तो भी उनका अनुमानकर लिया गया, इसेभी विरोधी लिङ्गरूप प्रमाण कहा गया।

भूतो भूतस्य ॥१३॥

सूत्रार्थ—भूतस्य–भुत की सिद्धि में, भूतः पदार्थ का प्रमाण भी विरोधी लिङ्ग माना गया है।


व्याख्या—विद्यमान वस्तु भी विद्यमान वस्तु की सिद्धि में विरोधी

लक्षण हैं। जैसे साँप और न्यौला परस्पर विरोधी होते हुए भी एक स्थान में पाये जाते हैं। उस समय साँप की झाड़ी की तरफ फुँकार मारते हुए देखकर यह अनुमान कर लेना कि झाड़ीं में न्यौला होगा विरोधी लिङ्ग माना जायगा।

प्रसिद्धि पूर्वकत्वादपदेशस्य ॥१४॥

सूत्रार्थ–अपदेशस्य=लिङ्ग ज्ञानकी, प्रसिद्धि=प्रसिद्धि, पूर्वकत्वात् =ज्ञानाश्रित है।

व्याख्या–लिङ्ग-ज्ञान की व्यक्ति ज्ञानसे ही हो सकती है। व्याप्ति से तात्पर्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध का है। जब तक व्यक्ति का होना प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होगा, तब तक एक से दूसरे का होना सिद्ध नहीं हो सकता। यदि व्याप्तिसे हेतु बनाकर अनुमान करें तो यह ठीक समझा जायगा। क्योंकि हेतु के मिथ्या होने पर अनुमान का मिथ्या होना सिद्ध हो जायगा। जैसे धुँआ है तो अग्नि अवश्य होगी। यदि कहें कि यहाँ धुँआ है तो जल अवश्य होता, तो यह कहना मिथ्या सिद्ध होगा क्योंकि धुँआ जल को सिद्ध करने के लिए हेतु नहीं हैं, वह तो अग्नि का ही लक्षण है। इसी प्रकार इन्द्रिय के विषयों के प्रसिद्ध होने पर आत्मा के अस्तित्व होने का अनुमान सिद्ध होता है।

अप्रसिद्धोऽनपदेशः ॥१५॥

सूत्रार्थ—अप्रसिद्धः=अप्रसिद्ध होने को, अनपदेशः=हेतु का आभास ही कहा गया है।

व्याख्या—जहाँ व्यक्ति की प्रसिद्धि न हो अथवा व्यक्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिखाई न दें, उस हेतु को हेत्वाभास कहते हैं। क्योंकि व्यप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष से ही हो सकती है। जब व्याप्ति प्रत्यक्ष नहीं, तो उसमें दोष उपस्थित होगा और उसका हेतु प्रमाणित नहीं माना जायगा। जैसे धुँआ दिखाई देता है तो अग्नि भी अवश्य होगी, क्योंकि अग्नि के बिना धुँआँ हो ही नहीं सकता। इसमें व्याप्ति प्रत्यक्ष रूप से है।

असन् संदिग्धश्चानपदेशः ॥१६॥

सूत्रार्थ—च=तथा, असन्=असिद्ध, सन्दिग्धः=सन्देहास्पद, अनपदेशः=हेत्वाभाव ही है।

व्याख्या–जहाँ व्यक्ति होने में सन्देह हो, अथवा प्राप्ति होना सिद्ध न हो सके, वह हेतु भी दूषित मानना चाहिए ! सूत्रकार ने असिद्ध व्याप्ति और सन्देहास्पद व्याप्ति के हेतुओं को हेत्वाभाव ही माना है अर्थात् जहाँ निमित्त कारण का अभाव हैं, वहाँ व्याप्ति भी सन्देहास्पद होगी, जैसे आग्नि नहीं तो धुँआ भी नहीं हो सकता।

यस्माद्विषाणो यस्मादश्वः ॥१७॥

सूत्रार्थ—विषाणी=सींग वाला यस्मात्=होने से, तस्मात् अश्वः =यह अश्व होगा।

व्याख्या—'इसके सींग हैं तो यह घोड़ा होगा इस प्रकार घोड़े को सींग वाला बताना मिथ्या होने के कारण हेत्वाभाव ही है क्योंकि सींग तो गाय, भैंस आदि के होते हैं, घोड़ा, गधा, खरगोश आदि के नहीं होते। घोड़े का होना सींग प्रमाण से क़दापि सिद्ध नहीं हो सकता इससे यही मानना होगा कि घोड़े को सींग से पहिचानना विरुद्ध कल्पना और हेत्वाभाव ही है।

यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरित्यनैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—च=तथा, विषाणी=सीग युक्त, यस्मात्=होने से, तस्माद् गौ=यह गौ है, इति=इस प्रकार, अनैकान्तिकस्य=अति व्याप्ति वाले हेतु का उदाहरणम्=दृष्टान्त है।

व्याख्या—यह सींग वाली है इसलिए गौ होगी, क्योंकि गौ के सींग होते हैं, तो यह दृष्टान्त अति व्याप्ति वाले हेतु का होने से इसमें

भी दोष है। सींग वाले पशु तो अनेक हैं, भैंस भी सींग वाली है, हरिण के भी सींग होते हैं। यदि सींग वाले को गौ ही कहें तो सींग वाले पशु गौ हो जायेंगे। इस प्रकार जो हेतु साध्य को छोड़कर औरों में भी चला जाय अर्थात् गौ के अतिरिक्त भैंस आदि को भी सिद्ध करें, वह दृष्टान्त भी हेत्वाभास से कहा जायगा। यहाँ सींग वाली होने से गौ की ही सिद्धि नहीं होती, भैंस आदि की भी सिद्धि हो सकती है, इसलिए यह हेत्वाभास दृष्टान्त है। हेत्वाभास दृष्टान्त५-५ प्रकार के कहे गये हैं। (१) अनैकान्तिक, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम, (४) साध्यसम, (५) कालातीत। इसी प्रकार, हेतु तीन प्रकार के हैं–केवलान्वयी, केवल–व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। प्रथम हेतु साध्य में समान रूप से पाया जाने से सिद्ध होता है, दूसरा हेतु साध्य से बिलकुल ही अलग और उसका विरोधी होता है, दूसरा हेतु किसी अंश में मिलता और किसी में नहीं मिलता।

आत्मेन्द्रियार्थ सन्नि . र्षात् यत् निष्पद्यते तदन्यत् ॥१६॥

सूत्रार्थ–आत्मेन्द्रिसंयार्थऽन्निकर्षात्–आत्मा में आश्रित इन्द्रियों के विषय-सम्बन्ध से, यत्=निष्पद्यते=ज्ञान में पैदा होता है, तत्=वह ज्ञान, अन्यत्=आत्म-ज्ञान से दूसरा है।

व्याख्या–आत्मा की आश्रित इन्द्रियों के विषय-भोग आदि सम्बन्ध के कारण जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह ज्ञान, आत्म ज्ञान नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान तो विषयों से निवृत्त होने पर ही हो सकता है। इन्द्रियों को आत्मा में आश्रित इसलिए कहा है कि इन्द्रिय अचेतन होने से विषयों में स्वयं प्रवृत्ति नहीं हो सकती, उनकी प्रवृत्ति आत्मा की प्रेरणा से होती है। इस प्रकार का विषय जन्य ज्ञानमोक्ष को सिद्ध करने वाला न होने से आत्मज्ञान से भिन्न कहा गया है।

प्रवृत्तिनिवृत्त: च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र
लिंगम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—च=और, प्रत्यगात्मनि=अपने आत्मा की सिद्धि में, प्रवृत्तिनिवृत्तिः=प्रवृत्ति और निवृत्ति लक्षण रूप है, वैसे ही, परत्र=अन्य शरीर में स्थित होता भी आत्मा का, लिङ्गम्=लक्षण है।

व्याख्या—जैसे विषयों की प्रवृत्ति और निवृत्ति से अपने आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, वैसे ही, दूसरों के शरीर में प्रवृत्ति या निवृत्ति का पाया जाना, उनमें भी आत्मा का होना सिद्ध करता है। इसका आशय यह है कि शरीर में जब राग, द्वेष या विषय भोग की प्रवृत्ति होती है और फिर भोगों से सन्तुष्ट हो जाने पर उनका त्याग कर दिया जाता है। इस प्रकार विषयों में प्रवृत्ति होने से आत्मा का अस्तित्व भी सिद्ध होता है, क्योंकि आत्मा की प्रेरणा से ही मनुष्य विषयों से फँसता और आत्मा की प्रेरणा से ही विषयों को त्यागता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति या निवृत्ति दूसरे शरीरों में भी देखी जाती है और इसी से सिद्ध होता है कि उन शरीरों में भी आत्मा है। क्योंकि चेष्टा करना चेतन आत्मा का ही लक्षण है, अचेतन शरीर का नहीं है।

तृतीयोऽध्याय:—प्रथमाह्निकम् समाप्तम् ॥

# तृतीयोऽध्याय:—प्रथमाह्निकम्

आत्मेन्द्रियार्थ सन्निमर्षे ज्ञानस्य भावो''भावश्चमनसो
लिंगम् ॥१॥

सूत्रार्थ—आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षे = आत्मा ही आश्रित इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होते हुए ज्ञानस्य = ज्ञान का,

भाव:=होना, च=और, अभाव:=न होना, मनस:=मन की सिद्धि में लिंगम=लक्षण स्वरूप है।

व्याख्या—इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध होने पर ज्ञान का न होना, अथवा ज्ञान का उत्पन्न हो जाना मन के कारण ही माना जाता है, इसलिए, इसे ज्ञान का लक्षण कहा गया है। क्योंकि इन्द्रियों से मन का संयोग होता है और आत्मा का संयोग मन से होता है, उधर इन्द्रिय विषयों से सम्बन्ध रखती हैं, इसलिए इन्द्रिय का विषय मन के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जब इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती हैं, तब ज्ञान का अभाव रहता है और विषयों को त्याग कर परमार्थ तत्व में लगती हैं तक ज्ञान उत्पन्न होता है इस प्रकार ज्ञान का उत्पन्न होना, न होना मन का ही लक्षण है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।२।।

सूत्रार्थ—वायुना=वायु के समान, तस्य=मन का, द्रव्यत्व नित्यत्वे=द्रव्यपन और नित्य होना, व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु को द्रव्य और नित्य कह चुके हैं, वैसे ही मन भी द्रव्य और नित्य ही है। क्योंकि वह संयोग और गुणों का आश्रय है तथा अन्वान्तर सृष्टि में उसका उत्पन्न होना भी नहीं पाया जाता। संयोग और गुण का आश्रय होने से उसे द्रव्य मानना ठीक हैं और सृष्टिकाल में उसकी उत्पत्ति न होने से वह नित्य है—जो जन्म-मरण से रहित है, वह नित्य है। इसलिए मनको द्रव्य और नित्य कहा गया है।

प्रयत्नायोगपद्याद् ज्ञानयोगपद्याच्चैकम् ।।३।।

सूत्रार्थ—ज्ञानायोगपद्याद्=ज्ञान के विषयों का योग होने से, च =और, प्रयत्नायोगपद्यात्=कर्मेन्द्रियों के कार्य करने से, एकम्=मन का एक होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—एक समय में एक कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं तथा ज्ञान भी एक विषय का ही होता है, और मन का सम्बन्ध ज्ञान के विषय और कर्मेन्द्रिय दोनों में ही है, इसलिये मन एक ही है। यदि मन बहुत होते तो एक साथ बहुत से कर्म हो जाते ओर ज्ञान के भी अनेक विषय साथ-साथ उपलब्ध होते जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए मन को एक ही मानना ठीक है।

प्राणपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि ॥४॥

सूत्रार्थ—प्राणापाननिमेषाउन्मेषजीवनमनोगतिन्द्रिययान्तरविकारः =प्राण अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुखदुःखेच्छा प्रयत्नाः = दुःख, दुःख, इच्छा और प्रयत्न, च=और प्रमाणादि, आत्मनः = आत्मा के, लिंगानि = लक्षण हैं।

व्याख्या–प्राण, अपान अर्थात् स्वाँस खींचना और निकालना निमेष और उन्मेख अर्थात् पलक खोलना और बन्द करना, जीवन, अर्थात् जिन्दगी, मन की गति और इन्द्रियों के विकार रूप सुख-दुःख, इच्छा और भोग-प्राप्ति के प्रयत्न यह सब आत्मा के लक्षण मानने चाहिए। प्राण इन सब में प्रमुख हैं क्योंकि वही भोजन को पचाता है और भूख-प्यास की स्थिति भी प्राण से ही हैं। तब शंका हुई कि इन्जन भी भोजन को पचाकर बाहर निकाल देता है। अर्थात् उसमें भी कोयले आदि भस्म होकर राख बाहर निकल जाती है और पलक खोलना और बन्द करना यह बात कुछ फलों में भी पाई जाती है, उनकी पंखुरियाँ खुलती बन्द होती हैं और जीवन भी वृक्षों में है परन्तु मनकी गति और इन्द्रियों की चेष्टा यह कार्य न इन्जन कर सकता है, न वृक्ष कर सकते हैं। यदि इन्जन का ही उदाहरण लें तो बिना चालक के यह चल ही

नहीं सकता, उसका गर्म होना, पानी लेना, भाप छोड़ना आदि कार्य भी मनुष्य की सहायता के बिना नहीं सकते। इसी प्रकार शरीर भी आत्मा के बिना कोई चेष्टा नहीं कर सकता इससे सिद्ध हुआ कि प्राण, अपान, निमेष-उन्मेष आदि सब आत्मा के ही लक्षण हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥५॥

सूत्रार्थ—वायुना=वायु के सामान, यस्य=उस आत्मा का द्रव्यत्वनित्यत्वे=द्रव्य होना और नित्य होना, व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे वायु का द्रव्य होना और नित्यत्व कहा गया है, वैसे ही आत्मा भी द्रव्य और नित्य है। कुछ व्यक्ति शंका करते हैं कि यदि आत्मा द्रव्य और नित्य है तो उसके गुण रूप सुख-दुःखादि भी नित्य होंगे ? उसका समाधान करते हैं कि यदि सुख नित्य होता तो कभी किसी को दुःख शोक आदि की अनुभूति ही नहीं होती और यदि दुःखी नत्य होता तो कभी के सुख के दर्शन ही नहीं होते और जब जीव दुःख ही दुःख भोगते दिखाई देते। परन्तु संसार में ऐसा नहीं देखा जाता, कभी कोई दुःखी है तो कभी कोई सुखी है, इसलिए, सुख दुःखादि नित्य नहीं, अनित्य है, क्योंकि सुख दुःखादि आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं, नैमित्तिक गुण हैं अर्थात् शरीर सम्बन्ध से ही उन का होना सम्भव होता है। अतः यही मानना ठीक है कि आत्मा ही द्रव्य और नित्य है।

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्याक्षाभावात् दृष्टं लिगं न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ—इति = यह यज्ञदत्त = यज्ञदत्त है, सन्निकर्षे = शरीर का इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर भी, प्रत्यक्षाभावात् = प्रत्यक्ष न होने से दृष्टं लिङ्गम् = प्रत्यक्ष लक्षण, विद्यते = नहीं हो सकता।

व्याख्या—आत्मा प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देती। जैसे एक व्यक्ति यज्ञदत्त नामक है, उसके शरीर में इन्द्रियों से सम्बन्धित रहने वाला आत्मा 'यह यज्ञदत्त है' ऐसा कहने पर भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यज्ञदत्त की जो आत्मा हैं, वह किसी को दिखाई नहीं देती। इस प्रकार आत्मा के दिखाई न देने के कारण कोई लक्षण भी नियत नहीं कर सकते और तब किसी लक्षण को आत्मा का लक्षण मानना मिथ्या है।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ।।

सूत्रार्थ—च=और, सामान्यतोदृष्टात्=सामान्यतोदृष्ट प्रमाण से अर्थात् अनुमान से सिद्ध होना, अविशेष=विशेष नहीं है।

व्याख्या—सामान्यतयोदृष्ट प्रमाण से इन्द्रियों का होना आत्मा के पक्ष में लक्षण मान लिया जायेगा, परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्यतोदृष्ट रूप अनुमान तो प्रत्यक्ष वस्तु के व्याप्ति-सम्बन्ध के ज्ञान से उत्पन्न होता है, वैसे, धुँआ है तो अग्नि अवश्य होगी। यदि धुँआ नहीं और अग्नि भी दिखाई नहीं दे रही है तो वहाँ अग्नि होगी या नहीं, यह कौन कह सकता है? इसी प्रकार आत्मा का व्याप्त-सम्बन्ध इन्द्रियों से नहीं बनता, इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय आदि आत्मा के लक्षण नहीं हैं।

तस्मादागमिकः ।।८।।

सूत्रार्थ—तस्मात्=उस अनुमान से जिस द्रव्य की सिद्धि होती है, वह आगमिकः=शास्त्रों द्वारा सिद्ध है।

व्याख्या—अनुमान से जिस आत्मा की सिद्धि होती हैं, वह आत्मा सब शास्त्रों में सिद्ध है। यजुर्वेद में 'आत्मैवा भूद्विजानतः' के अनुसार 'आत्मा को जानने योग्य' कहा है।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥९॥

सूत्रार्थ—अहमिति='अहं' इस, शब्दस्य=शब्द का, व्यतिरेकात् =व्यतिरेक होने, आगमिकम्=शास्त्र ही उसका प्रमाण, न=नहीं है।

व्याख्या–यदि यह कहा जाय कि आत्मा की सिद्धि केवल शास्त्र-प्रमाण से ही है तो यह ठीक नहीं है। मनुष्य सांसारिक व्यवहार में जो 'मैं' शब्द का प्रयोग करता है, उसका लक्ष्य आत्मा के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। पृथ्वी, जल, वायु आदि आठ प्राकृतिक द्रव्यों में से कोई भी आत्मा का वाची नहीं हो सकता। कोई यह नहीं चाहता कि "मैं पृथ्वी हूँ" यह मैं जल हूँ।" इससे सिद्ध होता है कि 'मैं' शब्द का प्रयोग पञ्च महाभूतों से निर्मित शरीर के बजाय आत्मा के लिए ही किया जाता है।

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥

सूत्रार्थ—यदि=यदि, अहंदेवदत्तः=मैं देवता हूँ, अहं यज्ञदत्तः= मैं यज्ञदत्त हूँ, इति=इस प्रकार का अनुभव, अन्वक्षम्=आत्मा का प्रमाण दृष्टम्=प्रत्यक्ष है।

व्याख्या—'मैं देवदत्त हूँ' अथवा 'मैं यज्ञदत्त हूँ' यदि ऐसा मान लेने से ही आत्मा का ज्ञान हो जाय, उसकी सिद्धि के लिए प्रमाण आदि की क्या आवश्यकता है? इसलिए, सामान्यतयोदृष्टि आदि अनु-मान की आत्म-सिद्धि में आवश्यकता नहीं है।

दृष्टे आत्मनिर्लिगे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् ।
प्रत्ययः ॥११॥

सूत्रार्थ—आत्मनिलिङ्गे = आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान आदि लक्षणों के दृष्टे=देखे जाने पर, प्रत्यय = आत्मा का अनुमान,

एक=ही, एक=दृढ़ होने के कारण; प्रत्यक्षवत्=प्रत्यक्ष प्रमाण के समान है।

व्याख्या—आत्मा के लक्षण ज्ञान आदि हैं और वे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इससे, आत्मा का अनुष्ठान भी प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही है। क्योंकि, ज्ञान आदि गुण अचेतन, शरीर के नहीं हो सकते, आत्मा ही ज्ञान में प्रवृत्त हो सकता है, इसलिए आत्मा की अनुमान से सिद्धि भी प्रत्यक्ष सिद्धि जैसे ही हैं। जैसे कि दूर से किसी जलाशय को देखकर अनुमान होता है कि यहाँ जल हो सकता है, परन्तु वहाँ पक्षियों को उड़ता देखकर यह निश्चय होता है कि जल अवश्य होगा, वैसे ही ज्ञान आदि के होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे
प्रत्ययः ॥१२॥

सूत्रार्थ—देवदत्त=देवदत्त, गच्छति=जाता है, यज्ञदत्त=यज्ञदत्त, गच्छति=जाता है, इति=ऐसा प्रतीत, प्रत्यक्षः=कि मैं देवता हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ, आदि शरीरे=शरीर के प्रति, उपचारात्=औपचारिक ही समझनी चाहिए।

व्याख्या—देवदत्त जाता है, मैं आता हूँ इत्यादि 'अहं' भाव को शरीर में मानना, यह उपचार से ही है। अर्थात् शरीर सम्बन्ध से ही आत्मा शरीर को स्वयं मान लेता है, वास्तव में शरीर से आत्मा भिन्न है। शरीर के गुण को अपने-गुण मानकर ही वह भ्रम में पड़ जाता है इसलिए 'उपचारात्' पद का प्रयोग हुआ है।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१३॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, उपचार=यहाँ उपचार संदिग्धः=सन्देहास्पद समझना चाहिए।

व्याख्या—यद्यपि आत्मा में शरीर के गुणों का आरोप अर्थात् मैं देवदत्त हूँ, इस प्रकार की प्रतीति उपचार से होती बताई गई है, परन्तु इस प्रकार का उपचार वास्तविक नहीं सन्देहास्पद है। इसमें सन्देह यह है कि यहाँ उपचार आत्मा में समझना चाहिए या शरीर में? इसमें वास्तविक क्या है—यह समझ में नहीं आता।

अहमिति प्रत्यागात्मनि भावात्परत्राभावादर्थान्तिरः।

सूत्रार्थ—अहं-इति=मैं हूँ' ऐसी प्रतीति प्रत्यगात्मनि=अपनी आत्मा में भावात्=होती है, परत्र=दूसरे की आत्मा में अभावात्=न होने से, अर्थान्तर=शरीर के पृथक् होने का तात्पर्य प्रत्यक्ष=प्रत्यक्ष है।

व्याख्या—'मैं देवदत्त हूँ' इस प्रकार की अनुभूति अपनी ही आत्मा में होती है, किसी दूसरे की आत्मा में होती नहीं, क्योंकि दूसरे के लिए तो वह देवदत्त है, वह भोजन कर रहा है, वह जा रहा है, अपने लिये तो वह देवदत्त है, भोजन कर रहा है वह जा रहा है, ऐसा अनुभव होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मैं 'देवदत्त हूँ' यह आत्मा के लिए ही कहा जा रहा है, शरीर के लिए नहीं कहा जा रहा। क्योंकि शरीर के लिए 'यह मेरा शरीर है' ऐसा कहा जाता है, 'मैं शरीर हूँ ऐसा कोई नहीं कहता। इसलिए अहं' भाव की प्रतीति आत्मा में ही होती है, शरीर में नहीं होती।

देवदत्तो गच्छति त्युपचारुदभिमानात्तावच्छरीरे
प्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥

सूत्रार्थ—देवदत्तः गच्छतिः=देवदत्त जाता है, इति=ऐसी प्रतीति, तथा अहङ्कार='अहं' भाव उपचारात्=उपचार से, तावत्=उसके समान: अभिमानतः=अभिमान से, शरीरः=शरीरमें प्रत्यक्षः=प्रत्यक्ष रूप से।

व्याख्या—देवदत्त जाता है इस प्रकार का ज्ञान शरीर में स्थित अहङ्कार के कारण, उपचार से होता है। क्योंकि जिस पदार्थ में अहङ्कार होता है, उसके नष्ट होने से दुःख होता है जिसमें अहङ्कार नहीं होता, उसके नष्ट होने से दुःख नहीं होता। जब तक अभिमान रहता है, जैसे मैं ताकतवर हूं, मुझे कौन मार सकता है तो उस अभिमान का भी आत्मा अपने में ही आरोह कर लेता है इस प्रकार आरोप उपचार से ही होता है।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१६॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु, उपचारः=उपचार (यहाँ भी) सन्दिग्धः=सन्देह उत्पन्न करने वाला है।

व्याख्या—परन्तु, इससे भी सन्देह है कि 'देवदत्त जाता' इसमें उपचार है, या 'मैं सुखी हूँ' इस अभिमान भाव में उपचार है ? क्योंकि एक शरीर के लिये ही बहुत से शब्दों का प्रयोग होता है, इसलिये कौन-सा शब्द वास्तविक है और कौन-सा औपचारिक है—यही नहीं कहा जा सकता।

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञान विषयः ॥१७॥

सूत्रार्थ—तु=परन्तु-यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः=यज्ञदत्त और विष्णु का मित्र सम्बन्धी ज्ञानम्-ज्ञान, विषयः=आत्म-विषयक, न=नहीं है, शरीर विशेषात्=शरीर की विशेषता से है।

व्याख्या—यज्ञदत्त और विष्णु दो मित्र हैं, उनकी मित्रता का सम्बन्ध ही उनके शरीरों के अलग-अलग होने की बात सिद्ध करता है। उसके शरीर का आकार-प्रकार एक-सा नहीं, एक लम्बा है, दूसरा ठिगना, एक गोरा है, दूसरा काला इस प्रकार एक शरीर की भिन्नता

और उनसे सम्बन्धित ज्ञान का भिन्न होना भी पाया जाता है। इन दोनों के ज्ञान से यह मानना होगा कि आत्मा के आश्रय में रहता है, शरीर के आश्रय में नहीं, इसलिए ज्ञान आत्मा का है, परन्तु सुख-दुःख, ऊँचाई, निचाई आदि गुण शरीर के हैं। शरीर में ही 'अहं' भाव का उपचार से ग्रहण होता है— यही मान्यता ठीक है।

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यातिरेकाव्य-
भिचाराद्विशेषसिद्ध आगमिकः ।।१८।।

सूत्रार्थ—मुख्ययोग्याभ्याम्—द्रव्य और योग्य, इयि=इस, अहम् =अह प्रत्तक्ष से, विशेष सिद्ध=आत्मरूप द्रव्य की विशेष सिद्धि होने से, और, व्यतिरेकाव्यभिचारात्=अहं प्रत्यय के न होने का दोष न होने से, शब्दवत्=शब्द के समान आगमिकः=शास्त्र प्रमाण से ही सिद्ध, न=नहीं है।

व्याख्या—अहं अत्यय अर्थात् मैं हूँ' यह ज्ञान आत्मा के अस्तित्व को बताता है, शरीर के अस्तित्व को नहीं। यह ज्ञान केवल शास्त्र से ही सुना हुआ, ज्ञान नहीं है बल्कि मन के द्वारा प्रत्यक्ष रूप आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। यदि आत्मा 'मैं हूं' इस प्रकार के अनुभव का अभाव होता हो अर्थात् 'मैं हूं' का अनुभव न होता तो आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो। इस में अवश्य दोष माना जा सकता था, परन्तु, यहाँ ऐसा दोष नहीं है। इसलिए भी मुख्य रूप से आत्मा ही 'अहं' अर्थात् मैं 'हूं' कहने में योग्य है, शरीर इस योग्य नहीं है। यदि आत्मा निकल जाय तो शरीर को 'मैं हूं' ऐसा अभिमान हो ही नहीं सकता। क्योंकि शरीर अचेतन में आत्मा के निकलते ही वह निश्चेष्ट तथा ज्ञान-रहित हो जाता है। आत्मा का अपने को सुखी या दुःखी मानना मन के द्वारा ही है। जैसे शब्द गुण व्यतिरेक-अर्थात् पृथक् करने से बिना किसी दोष के आकाश है सिद्ध होता हो वैसेही 'मैंहूं'यह शब्द व्यतिरेकअर्थात्आत्मा और शरीर का भेद करने से आत्मामें आश्रित होता ही सिद्ध होता है।

सुख दुःख ज्ञान निष्पत्य विशेषादैकात्म्यम् ।।१६।।

सूत्रार्थ—सुख-दुःख ज्ञाननिष्पत्यविशेषात्=सुख, दुःख और ज्ञान की उत्पत्ति समान रूप से पायी जाने से, ऐकात्म्यम्—आत्मा एक है ऐसा सिद्ध होता है।

व्याख्या—सब शरीरों में सुख, दुःख और ज्ञान की प्रतीति सामान्य रूप से पाई जाती है तथा किसी प्रकार की विशेषता नहीं मिलती। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा एक है—अनेक नहीं है, बहुत से घड़ों में भरा हुआ पानी एक ही होता है और सब घड़ों में भरे पानी में गुण भी सामान्य एक से ही पाये जाते हैं। वैसे ही बहुत से शरीर होते हुए भी आत्मा एक ही है क्योंकि, आत्मा गुणों में कोई अन्तर नहीं होता। उस प्रकार किसी आत्मा में कोई और किसी आत्मा में कोई विशेषता प्रत्यक्ष नहीं हो।

व्यवस्थातो नाना ।।२०।।

सूत्रार्थ—व्यवस्थातः–सुख, दुःख आदि को व्यवस्था के होने से, नाना=आत्मा का अनेक होना सिद्ध है।

व्याख्या—सूत्रकार पूर्व पक्ष को स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं, क्योंकि शरीर में सुख-दुःख और ज्ञान की प्रवृत्ति अलग-अलग होती है। यदि आत्मा एक ही होता तो कोई मनुष्य सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता, या तो सभी सुखी होते या सभी दुःखी होते और ज्ञान भी सब में समान होता, कोई मूर्ख और कोई विद्वान् अथवा कोई कम विद्वान् कोई अधिक विद्वान् दिखाई नहीं देते। इस प्रकार का अवस्था-भेद देखने से आत्मा का अनेक होना ही मानना होगा। किसी घड़े में खारी जल हैं, किसी में मीठा है तो उसे एक कुए का ही कैसे मान लेंगे? उसके गुण में भी समानता नहीं होगी। इसी प्रकार आत्मा को भी एक मान सकते हैं।

शास्त्र सामर्थ्याच्च ।।२१।।

सूत्रार्थ—च=और, शास्त्र सामर्थ्यात्=शास्त्र का सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होने से भी जीवों का अनेक होना सिद्ध है।

व्याख्या—शास्त्र ज्ञान का भिन्न होना भी जीवों का अनेक होना सिद्ध करता है, अथवा शास्त्र ज्ञानसे भी जीवात्माओं के बहुत होने की सिद्धि है। यथा—'द्वासुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' अर्थात् 'वृक्ष पर दो मित्र बैठे हैं, उनमें से एक खाता और दूसरा देखता रहता है" इसी प्रकार और भी वेदवाक्य इसके प्रमाण में मिलते हैं। उक्त श्रुति में जीवात्मा और परमात्मा का भेद प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म स्वरूप से व्यापक होने से परमात्मा कहा गया है। जीवात्माओं में बद्ध जीव और मुक्त जीव का भेद प्रत्यक्ष हैं। इस सबसे जीवात्माओं के अनेक होने की सिद्धि होती है।

।। तृतीयोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम् समाप्तम् ।।

# चतुर्थोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

सदकारणवन्नित्यम् ।।१।।

सूत्रार्थ—सत्=भाव, अकारणवत्=अकारण जैसा जो, नित्यम्=नित्य पदार्थ है, वही मूल कारण है।

व्याख्या—जिस विद्यमान वस्तु के अस्तित्व के लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा न हो, वह वस्तु नित्य है। 'सत्' वस्तु वह है जो तीनों काल में समान रूप से स्थित रहे, जिसकी उत्पत्ति अथवा विनाश न हो, वह नित्य है। जो कभी कभी न हो, जिनका उत्पन्न होना और नष्ट होना सिद्ध होता हो—वह वस्तु अनित्य कही जाती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका कारण अर्थात् उत्पन्न करने वाला भी अवश्य होगा, परन्तु जो उत्पन्न नहीं होती, जिसकी सत्ता सदा रहती है, उसका कारण भी नहीं होता, बल्कि अनित्य वस्तु उसकी अपेक्षा रखती है, वही वस्तु नित्य है। इस प्रकार जिसकी सत्ता है और जिसे जिस कारण की आवश्यकता नहीं है, ऐसी प्रकृति ही इस जगत् का मूल कारण उपादान कारण है।

तस्य कार्यलिङ्गम् ।।२।।

सूत्रार्थ—तस्य=उस प्रकृति की सिद्धि करने में कार्यम्=कार्यरूप जगत् ही लिङ्गम्=लक्षण है।

व्याख्या—प्रकृति को जगत् का मूल कारण सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, उसका कार्य-रूप जगत् प्रत्यक्ष है, वही उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए बहुत है। कार्य

से कारण की और कारण से कार्य की सिद्धि होना सामान्य नियम है। इस प्रकार कार्यरूप जगत् उसके मूल कारण प्रकृति का अनुमान होना उचित ही है। जैसे घड़े को देखकर यह मानना होता है कि मिट्टी से बना है। यदि मिट्टी नहीं होती तो घड़ा बन ही नहीं सकता था अथवा वस्त्र है तो उसका कारण कपास होगा, क्योंकि कपास से ही धागा बनता है और धागों से वस्त्र बुना जाता हैं। उसी प्रकार जगत् है तो उसका कारण भी होना चाहिए। प्रकृति रूप कारण का कार्य रूप जगत् ही, प्रकृति के कारण होने का लक्षण अर्थात् प्रमाण हैं।

कारणाभावात् कार्याभावः ।।३।।

सूत्रार्थ—कारणअभावात्=कारण के न होने से, कार्य अभावः= कार्य भी नहीं हो सकता।

व्याख्या—जब कारण नहीं तो कार्य भी नहीं होगा, क्योंकि कारण से ही कार्य हो सकता है। कुछ विद्वानों ने सूत्रों को "कारण भावात् कार्य भाव" लिखा है, अर्थात् "कारण ही कार्य होगा" बात एक ही है। यदि जगत्' कारण प्रकृति नहीं होतीं तो जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती थी। यदि कारण से कार्य का निगम न होता हो संसार का कोई कार्य ही नहीं हो सकता था। भवन निर्माण आदि कार्य भी ईंट चूना, मिट्टी आदि कारण के बिना नहीं बन सकते। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा यह बात भी प्रत्यक्ष है। पीतल के बर्तन पीतल जैसे ही होते हैं। इससे कार्य के सम्बन्ध की सिद्धि होती है।

अनित्य इतिविशेषतः प्रतिषेधभावः ।।४।।

सूत्रार्थ—अनित्यः=पदार्थोंका अनित्य होना इति=ऐसा प्रतिषेध भावः=नित्य का निषेध भाव, विशेषतः=विशेष रूप से, उसे सिद्ध करता है।

व्याख्या—संसार के सभी पदार्थ नाशवान् हैं, उनका नित्य न होना ही प्रकृति की नित्यता को विशेष रूप से सिद्ध करता है। जो वस्तु अवयव वाली है, वह अवयवों से मिलकर प्रकट होने से पहले सत्ता-रहित थी, इसलिए उनका नित्य होना सिद्ध नहीं होता। जो पदार्थ अवयव वाले हैं, वे अवयवों के मिलने पर प्रकट होते हैं और अवयवों के अलग-अलग होने पर नष्ट हो जाते हैं और जो अवयव-रहित हैं वे पदार्थ नित्य माने जाते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष नहीं होते। संसार के उत्पादन कारण रूप परमाणु अलग-अलग और नित्य हैं।

अविद्या ॥५॥

सूत्रार्थ—अविद्या=उत्पत्ति और विनाश वाली वस्तु अविद्या से हैं।

व्याख्या—जगत् की प्रत्यक्ष सत्ता, उत्पत्ति और विनाश वाली है, वही अनित्य है, परन्तु जो भाव पदार्थ कार्य रूप नहीं है, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं हैं, वे हैं प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा। इनका कभी जन्म मरण नहीं होता, वे नित्य हैं, जो लोग नित्य पदार्थों को अनित्य अथवा अनित्य पदार्थों को नित्य मानते हैं। भ्रमवश ही ऐसा मानते हैं। सूत्रकार ने इसी को अविद्या कहा है। अर्थात् नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य मानना ही अविद्या है।

महत्यनेकद्रव्यवत्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥

सूत्रार्थ—महति=महत् परिणाम वाले द्रव्य में अनेक द्रव्यवत्वात् =अनेक द्रव्यत्व होने से, च—और, रूपात्=रूप होने से, उपलब्धि =प्राप्त होती है।

व्याख्या—वे वस्तु प्रत्यक्ष होती है, जिनका 'महत्' परिणाम हो अर्थात् स्थूल हो। क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ दिखाई नहीं देता। जिनमें अनेक अवयवों का मेल हो वही रूप वाली होकर प्रत्यक्ष होती हैं। एक

द्रव्य भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे वायु एक द्रव्य है, परन्तु नेत्र उसको देख नहीं सकते। अवयव वाले द्रव्य ही आकार को ग्रहण कर सकते हैं, और वही प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु वायु अवयव वाला और महान् होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए एक प्रकार के गुण वाला पदार्थ भी दिखाई नहीं देता।

सत्यपिद्रव्यत्वे महत्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुप-
लब्धिः ॥७॥

सूत्रार्थ—द्रव्यत्वे = द्रव्यपन, महत्वे = महत् परिणाम के, सति = होने से, अपि = भी, रूपसंस्कार-प्रभावात् = रूप और संस्कार के न होने से, वायोः = वायु की, अनुपल = प्रकटता नहीं है।

व्याख्या—वायु अनेक परमाणु रूप द्रव्यों के मेल वाला होने से महान् हैं और उसमें द्रव्यमान भी हैं, परन्तु उसमें रूप और संस्कार नहीं है, क्योंकि उसका रूप या आकार-प्रकार नहीं है, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि स्थूल के गुण सूक्ष्म में नहीं आते। रूप अर्थात् तेज अग्नि का गुण और अग्नि वायु की अपेक्षा अधिक स्थूल है, इसलिए अग्निका गुण वायु में नहीं आ सकता। यही कारण है कि वायु नेत्र से दिखाई नहीं देता। वायु में केवल स्पर्श गुण है और रूप के साथ स्पर्श गुण भी अग्नि में होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म पदार्थ के गुण स्थूल पदार्थ में हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा सबसे सूक्ष्म है, इससे स्थूल है आकाश, आकाश से स्थूल वायु और वायु से स्थूल अग्नि है तथा अग्नि से भी स्थूल पृथिवी है। जो अधिक स्थूल पदार्थ हैं, वे प्रकट हैं और जो अधिक सूक्ष्म हैं, वे प्रकट नहीं हैं।

अनेकद्रव्यसमवायात्रूपविशेषाच्च रूपोलब्धिः ॥८॥

सूत्रार्थ—अनेकद्रव्यसमवायात्=अनेक द्रव्यों के मिलने से, च=और, रूपविशेषात्=रूप की विशेषता से, रूपोपलब्धिः=रूप की प्रकटता सिद्ध होती है।

व्याख्या—अनेक द्रव्यों के मिलने से पदार्थ बनता है और पदार्थ में ही रूप हो सकता है। एक द्रव्य में रूप नहीं होता। यदि एक परमाणु में रूप होता तो उसे देखना भी सम्भव होता। केवल परमाणुओं के मिलन से ही वे दिखाई नहीं दे सकते। उनका दिखाई देना तभी सम्भव है जबकि वे मिलकर किसी वस्तुका आकार ग्रहण करलें। इससे सिद्ध हुआ अनेक द्रव्यों का मिलना और उनका आकार ग्रहण करना यह बातें हों, तभी दिखाई देना हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥६॥

सूत्रार्थ—तेन=उसी प्रकार रसगन्धस्पर्शेषु=रस, गन्ध और स्पर्श में भी, ज्ञानम्=ज्ञान व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे अनेक परमाणुओं का मिलकर आकार ग्रहण कर लेना रूप है और रूप से ही वस्तु की प्रत्यक्षता कही गई है, वैसे ही रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान है। रस नेत्र से नहीं देता, परन्तु जिह्वा से उसका आस्वादन होने से प्रत्यक्ष होता है, गन्ध की अनुभूति नासिका से होती है और स्पर्श-ज्ञान त्वचा के द्वारा होता है। परन्तु जिह्वा रस का अनुभव जलीय पदार्थ के मेल से ही कर सकती है, जल के परमाणुओं के विना रस का ज्ञान नहीं हो सकता, गन्ध भी परमाणुओं के मेल से ही प्रत्यक्ष होगी, जब तक पृथिवी के परमाणु नहीं मिलेंगे तब तक गन्ध नहीं हो सकती इसी प्रकार वायु के परमाणु मिलने

से त्वचा को स्पर्श का अनुभव हो सकता है, वायु के परमाणुओं के विना नहीं हो सकता।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥१०॥

सूत्रार्थ—तस्य=उसका अभावात् न होने से, अव्यभिचारः=दोष नहीं हैं।

व्याख्या—यह कहा गया कि संयुक्त पदार्थों के द्रव्य में रूप की प्रकटता रहती है, और उसमें गुरुत्व अर्थात् बोझ भी रहता है तो जैसे रूप प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही गुरुत्व भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। परन्तु गुरुत्व का प्रत्यक्ष न होना कोई दोष नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु में दो गुण हों तो वह दोनों ही प्रकट होने चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। जब ऐसा नियम ही नहीं तो व्यभिचार दोष का भी प्रश्न नहीं उठता। रूप अग्नि का गुण है गुरुत्व पृथिवी का गुण है तो यह दोनों अलग-अलग हैं। इसलिए एक गुण का प्रत्यक्ष होना दूसरे गुण का प्रत्यक्ष न होना हो सकता हैं। गुण में गुण नहीं होता अर्थात् गुरुत्व है गुण उसमें रूप गुण नहीं हो सकता। जब गुरुत्व में रूप है ही नहीं तो उसे देख भी नहीं सकते।

संख्याःपरिमाणानिपृथक्त्वं संयोगाविभागौपरत्वाः
परत्वे कर्म च रूपं द्रव्यसमवायाच्चक्षुषाणि ॥११॥

सूत्रार्थ—संख्याः=संख्ता (गणन) परिमाणानि=परिमाण और पृथक्त्वम्=अलग होना, संयोगविभागौ=मेल और विभाग, परत्वापरत्वे=परत्व, और अपरत्व, कर्म=कर्म च=ही (सभी) रूपद्रव्यसमवायात्=रूप और द्रव्य का संयोग होने के, चक्षुषाणि=नेत्र से ग्राह्य है।

व्याख्या—संख्या और परिमाण, मिलना, अलग होना आदि सब

कर्म अवयव वाले पदार्थों में ही हो सकते हैं, क्योंकि अवयव वाले पदार्थ द्रव्य के संयोग वाले होने से, उनका आकार-प्रकार होता है और इसलिए वह दिखाई देते हैं। इसी प्रकार पर, अपर होना भी उन्हीं द्रव्यों से सम्बन्धित है, जो नेत्र से ग्रहण हो सकते हैं। कर्म भी नेत्र से ग्रहण हो सकते हैं। कर्म भी नेत्र से ग्राह्य है, क्योंकि उसका भी रूप वाले पदार्थ से संयोग रहता है। अब, इसे यों समझिए कि चार बैल खड़े हैं, उनके चार संख्यक होने का ज्ञान आँख से ही होगा। कोई वस्तु छोटी हैं या बड़ी है यह भी नेत्र से दिखाई देगा, कोई वस्तु सबसे भिन्न-आकार-प्रकार की है, यह नेत्र से देखा जा सकता है। इसी प्रकार वस्तुओं का परस्पर मिलना या उनका अलग होना भी नेत्र का ही विषय है। दूध में पानी मिलाते हुए या आटा में नमक डालते हुए अथवा दही से मक्खन निकालते हुए आदि सभी कर्म नेत्रों से देखे जा सकते हैं।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥२॥

सूत्रार्थ—अरूहिषु=बिना रूप वाले द्रव्यों में अचाक्षुषाणि=गुण नेत्र से ग्रहण नहीं हो सकते।

व्याख्या—जो द्रव्य दिखाई देते हैं, वे रूप वाले हैं और जो रूप वाले हैं, वही दिखाई देते हैं, जो पदार्थ रूप वाले नहीं हैं, वे नेत्र से नहीं देखे जा सकते। यही कारण है कि आत्मा आदि की संख्या नहीं जानी जा सकती, क्योंकि, आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थ नेत्र से दिखाई नहीं देते।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—एतेन=इनसे, गुणत्वे=गुणत्व में च=और, भावे=भाव, में सर्वेन्द्रियम्=सभी इन्द्रियों से, ज्ञानम्=ज्ञान होना, व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे नेत्र का विषय रूप वाले पदार्थ हैं और बिना

रूप वाले पदार्थ नेत्र से ग्राह्य नहीं हैं, वैसे ही गुण वाले पदार्थों का अनुभव सब इन्द्रियों से होना कहा गया है। रूप रस, गन्ध, स्पर्श, वाणी इन पाँच गुणों का नेत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ से ज्ञान होता है। रूप को आँख ग्रहण करती है, रस को जिह्वा गन्धको नासिका, स्पर्श को त्वचा और वाणी को वाक् इन्द्रियाँ। संख्या आदि गुण दो-दो इन्द्रियों से और सुख-दुःख मन से जा नेजाते हैं।

॥ चतुर्थोऽध्यायः--प्रथमाह्निकम् समाप्तम् ॥

# चतुर्थोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

तत् पुनः पृथिव्यादिकार्यं द्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रिय-विषय संज्ञकम् ॥१॥

**सूत्रार्थ**—तत्=वह पृथिव्यादिकार्यद्रव्यम्=पृथिवी आदि कार्य रूप द्रव्य, पुनः=फिर, शरीरेन्द्रयविषय संज्ञकम्=शरीर, इन्द्रिय और विषय कहलाने वाले, त्रिविधम्=तीन प्रकार के हैं।

**व्याख्या**—प्रकृति के लिङ्ग रूप कार्य पृथिवी आदि पञ्चतत्व तथा शरीर इन्द्रिय और उनके विषय तीन प्रकार के कहे गये हैं। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और विषय यह तीन भेद हैं। शरीर भोक्ता का भोग-स्थान है–जैसे हम किसी घर में रहते हैं तो घर हमारा भोग-स्थान या रहने, खाने, पीने, सोने आदि का स्थान है, वैसे ही शरीर रूप घर

में यह जीवात्मा रहता है और इसी के द्वारा कर्म फल रूप भोगों को भोगता है। इन्द्रिय भी शरीर के आश्रित ही रहती है और जिस विषय को ग्रहण करना उनका कार्य है उसे ग्रहण करती रहतीं है। तीसरा भेद विषय-यह इन्द्रियों से भिन्न होते हुए भी इन्द्रियों के सहयोग से आत्मा के लिये भोग के साधन रूप है। इसी प्रकार पृथिवी के भी तीन भेद माने गये हैं। शरीर भी तीन प्रकार का कहा गया है। (१) कर्तव्य योनि-जिसमें पड़कर आत्मा भोग अथवा अपवर्ग के लिये कर्म करता है। (२) कर्तव्य भोक्तव्य योनि-जिसमें अपने पूर्व कर्म का फल भोगता है, परन्तु आगे के लिए कोई शुभ कर्म नहीं करता। इसी प्रकार जल, अग्नि और वायु के भी तीन-तीन भेद हैं, परन्तु आकाश के दो ही भेद माने गए हैं।

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रष्यक्षत्वात्
पञ्चात्मकं न विद्यते ॥२॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षाणाम्=प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों का, संयोगस्य=संयोग, अप्रत्यक्षत्बात=प्रत्यक्ष न होनेकेकारण पञ्चात्मकम्=पाँच भूतों का कार्य, न=नहीं, विद्यते=है।

व्याख्या—शरीर आदि को पाँच भूतों का कार्य नहीं कह सकते, क्योंकि अग्नि प्रत्यक्ष दिखाई देना है, वह दिखाई न देने वाले वायु और आकाश से मिलता हुआ प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। यदि यह मान लें कि शरीर पृथिवी आदि पाँच भूतों से बना है तो वायु और आकाश से बनने के कारण शरीर दिखाई नहीं देना चाहिए। पृथिवी, जल, अग्नि के मेल से कुछ भाग दिखाई देता और कुछ भाग न दिखाई देता। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए और पञ्च भूतों से बना हुआ नहीं मान सकते।

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च ॥३॥

सूत्रार्थ—गुणान्तर=गुण का अन्तर, अप्रादुर्भावात्=प्रकट न होने से, च=भी, यही मानना ठीक है।

व्याख्या—यदि पृथिवी, जल और अग्नि के संयोग से यह शरीर बना होगा तो इसमें जल का गुण गीलापन, पतलापन, वहना आदि तथा अग्नि के गुण गर्मी और प्रकाश आदि भी पाये जाते। परन्तु शरीर में यह गुण नहीं पाये जाते, केवलगन्ध गुण मिलता है, इससे सिद्ध होता है कि शरीर पाञ्चभौतिक नहीं पार्थिव अर्थात् पृथिवी तत्व से ही बना है।

न त्र्यात्मकम् ॥४॥

सूत्रार्थ—त्र्यात्मकम्=पृथिवी, जल, अग्नि के संयोग से बना भी न=नहीं मान सकते।

व्याख्या—शरीर पञ्च भौतिक तो नहीं होता है, क्योंकि उसमें वायु और आकाश के गुण तो हैं ही नहीं, साथ ही अग्नि और जल के गुण भी नहीं हैं, इसलिए तीन तत्वों से बना हुआ भी नहीं मान सकते। यह तो केवल पृथिवी तत्व से ही बना हुआ सिद्ध होता है।

अणुसंयोगास्त्वऽप्रतिषिद्धः ॥५॥

सूत्रार्थ—अणुसंयोग:==अणुसंयोग का, तु—तो, अप्रतिषिद्धि: =निषेध नहीं किया है।

व्याख्या—पूर्व सूत्रों में शरीर को पाञ्च भौतिक होने का निषेध किया गया है। परन्तु परमाणुओं के संयोग को अमान्य नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर पञ्चभूतों के परमाणुओं से बना है, क्योंकि भोजन अग्नि के संयोग से पचता है, वायु के संयोग से रक्त चालान आदि क्रिया तथा जलके संयोग से रक्त वीर्य आदि बनता है

इस प्रकार सब भूतों के गुण शरीर में पाये जाते हैं। पार्थिव अंश की अधिकता होने से शरीर को पार्थिव मानने में भी कोई दोष नहीं है। गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है जब तक शरीर रहता है, तब तक तो उसमें गन्ध रहती ही है, मरने के बाद भी उसमें दुर्गन्ध आदि पैदा होना पाया जाता है। इस प्रकार पृथिवी तत्वके अधिक गुण पाये जाने से शरीर को पार्थिव कहना ही ठीक है।

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं ॥६॥

सूत्रार्थ—तत्र=उनमें, योनिजम्=योनि से उत्पन्न, च=और, अयोनिजम्=योनि से उत्पन्न न होने वाला, (इस प्रकार) द्विविधम्=दो भाँति का, शरीरम्=शरीर है।

व्याख्या—शरीर दो प्रकार के होते हैं—एक योनिज अर्थात् योनि से उत्पन्न होने वाला और दूसरा अयोनिज अर्थात् योनि से उत्पन्न न होने वाला। योनिज शरीर वह हैं जो माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होता है और अयोनिज उसे कहते हैं जो माता-पिता के संयोग के बिना ही उत्पन्न हो जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ से जो ऋषि स्वयं उत्पन्न होते हैं, उनका शरीर अयोनिज माना गया है। वे मुक्त अवस्था से वापिस लौटकर नये कर्म करने के लिए ही पृथिवी पर आते हैं, उनका पूर्व कर्म का फल-भोग शेष न रहने के कारण, उन्हें गर्भावस्था के कष्ट नहीं भोगने होते। योनिज शरीर के भी दो भेद माने गए हैं-एक जरायुज-जो जरायु के द्वारा उत्पन्न होते हैं-जैसे मनुष्य, पशु आदि तथा दूसरे अण्डज जो अण्डे के द्वारा उत्पन्न होते हैं, उनमें पक्षीभी सम्मिलित हैं।

अनियत दिग्देश पूर्वकत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थ—दिग्देश=दिशा और देश, पूर्वकत्वात् अनियतः=पहिले से नियम न होते के कारण अयोनिज हैं।

व्याख्या—सृष्टि के आरम्भ में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उनकी दिशा और देश नियत नहीं होते अर्थात् उन्हें कहाँ जाना है, क्या करना है, इत्यादि का निश्चित नियम नहीं होता, क्योंकि उनके पूर्व कर्म का फल भोग तो शेष रहता ही नहीं जिससे उनके जन्म आदि का फल भोग के अनुसार कोई नियत विधान होता। ये तो मुक्त अवस्था से लौटे हुए होने से बिना योनि उत्पन्न होने की विशेषता वाले होते हैं। इसलिए, उनके लिये योनि का कोई विधान नहीं होता और बिना योनि देह धारण करने का ही उनके लिए विशेष नियम होता है।

धर्म विशेषाच्च ॥८॥

सूत्रार्थ--च=और, धर्म विशेषात्=विशेष धर्म वाले जीव भी अयोनिज ही होते हैं।

व्याख्या—सृष्टि के प्रारम्भ में किन शरीरों की रचना होती है, वह कर्म विशेष के अनुसार ही होते हैं। वे शरीर एक प्रकारसे उत्पन्न नहीं होते, भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न तथा विभिन्न रूप वाले होते हैं। इनमें साङ्कल्पिक अर्थात् सङ्कल्प से ही उत्पन्न होने वाले तथा सांसिद्धिक अर्थात् सिद्ध पुरुषों और योगियों के योग बल आदि से उत्पन्न होने वाले अयोनिज हैं तथा डांस, मच्छर, कृमि आदि स्वेदज अर्थात् पीने से उत्पन्न होने और तृण, लता, वृक्ष आदि उद्भिज कहे जाने वाले, यह सब शरीर अयोनिज ही हैं, क्योंकि, यह योनि से उत्पन्न नहीं होते।

समाख्याभावाच्च ॥९॥

सूत्रार्थ—समाख्या=नाम की प्रसिद्धि, भावात्=होने से, च=भी, ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—सृष्टि से आरम्भ में उत्पन्न हुए अनेक ऋषि अत्यन्त

प्रसिद्ध हो गये हैं। उनमें अग्नि, वायु, आदित्यों, अङ्गिरा, ब्रह्मा स्वयम्भू गौतम, भरद्वाज आदि सभी अयोनिज ही हुए हैं। उनकी प्रसिद्धि, महानता और कर्म को संसार में सभी जानते हैं। परमात्मा के सिवाय उनका माता-पिता अन्य कोई नहीं था। इसी से सिद्ध होता है कि ऋषियों की उत्पत्ति अयोनिज होती है।

संज्ञाया आदित्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—संज्ञाता=नाम के, आदित्वात्=प्रारम्भ में होने से भी मान्यता ठीक है।

व्याख्या–जिन ऋषियों के नाम सृष्टिकाल में सर्व प्रथम मिलते हैं, उनके माता-पिता के नामों का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता सभी सर्गों में वे नाम उसी प्रकार मिलते हैं। जैसे ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रत्येक सर्ग में सर्व प्रथम होती है। आदित्य, अग्नि आदि सभी नाम अनादि हैं। जिनके माता पिता नहीं होते वे योगिक कहे जाते हैं अर्थात् वायु, अग्नि, अंगिरा, ब्रह्मा, मनु आदि सभी सर्गों में इन्हीं नामों से होते हैं। इस प्रकार, इनके नाम सृष्टि के प्रारम्भ में सब से पहिले आते हैं। इस से सिद्ध होता है कि यह सब ऋषि अयोनिज ही थे।

सन्त्यन्तियोनिजः ॥११॥

सूत्रार्थ—अयोनिजः=अयोनिज होना, सन्ति=इस प्रकार सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या—उपरोक्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि बिना योनि के उत्पन्न होने की जो बात कही गई है, वह ठीक है, क्योंकि ऋषि का नाम सृष्टि के प्रारम्भ में कहा गया है और उसके माता-पिता का नामोल्लेख नहीं किया गया, तो उस ऋषि को अयोनिज अर्थात् बिना माता पिता के संयोग के ही उत्पन्न मानना होगा।

वेदलिंगाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थ—वेदलिङ्गात्=वेद में इस प्रकार के प्रमाण मिलने से, च=भी यह मानना ठीक है।

व्याख्या—वेद प्रमाण से भी अयोनिज शरीर का होना सिद्ध होता है। ब्रह्मा, देवगण और ऋषि आदि जो सर्गारम्भ उत्पन्न हुए, वे सभी अयोनिज थे। यजुर्वेद (३१-१२) में "चन्द्रमा मनसो जातः" अर्थात् 'चन्द्रमा ईश्वर के मन से उत्पन्न कहा गया है। इससे भी अयोनिज शरीर का होना सिद्ध होता है।

॥ चतुर्थोऽध्याय द्वितीयाह्निकम् समाप्तम् ॥

# पञ्चमोऽध्यायः—प्रथमाह्निऽकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥१॥

सूत्रार्थ—आत्म संयोग प्रयत्नाभ्याम्=आत्मा के संयोग व प्रयत्न से, हस्ते=हाथ के द्वारा, कर्म=कर्म होता है।

व्याख्या—जब हाथ के द्वारा कोई कर्म करना हो, तब उसके लिए प्रयत्न और आत्मा का संयोग आवश्यक है। बिना आत्मा के सहयोग के कोई कर्म नहीं किया जा सकता, क्योंकि हाथ आदि अचेतन वस्तुयें क्रिया का अभाव है, आत्मा के संयोग से ही हिलना-डुलना, किसी वस्तु को उठाना, तोडना बनाना आदि सम्भव है। यदि कहें कि आत्मा का संयोग तो शरीर के प्रत्येक अङ्ग को हर समय प्राप्त है, जिस अङ्ग से, जिस समय आत्मा का सम्बन्ध न रहेगा, वह अङ्ग प्राण-हीन होकर निरर्थक हो जायगा और उसे शरीर से काटकर अलगकर देना होगा। इसलिए, जीवित अङ्ग से आत्मा का संयोग होगा ही इस शंका को दूर करने के लिए सूत्रकार से स्पष्ट कह दिया है कि आत्मा के संयोग के साथ प्रयत्न अर्थात् इच्छा शक्ति का भी सम्बन्ध हो तभी हाथ कर्म करने में समर्थ हैं। जिस कार्य के करने की इच्छा न होगी, उसे करने के लिए हाथ चेष्टावान् हो ही नहीं सकता और कर्म भी तभी हो सकता है जब उसे हाथ का संयोग प्राप्त हो। इस प्रकार आत्मा के चाहने पर ही हाथ कर्म करने के लिए चेष्टावान् होता है। इस प्रकार हाथ कर्म का समवायि कारण है।

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥२॥

**सूत्रार्थ**—तथा=उसी प्रकार, हस्त संयोगात्=हाथ के संयोग में, च=ही, मूसले में, कर्म=उत्पन्न होगा।

व्याख्या—जैसे, आत्मा के संयोग से और इच्छा शक्ति के द्वारा हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है, वैसे ही हाथ के संयोग से, धान कूटते समय मूसल में क्रिया उत्पन्न होती है। जब मूसल नीचे से ऊपर की ओर जाता हैं तब उसमें हाथ के संयोग से ही क्रिया होती है अर्थात् हाथ के सहारे से वह ऊपर होता है, नीचे गिरने में तो उसके भारी होने का भी संयोग है, इसलिए वह बिना प्रयत्न के ही गिर सकता है, परन्तु, उस अवस्था में भी हाथ उसे न साधे तो वह ओखली में गिरे, यह सम्भव नहीं है। इसलिए नीचे गिरने की अवस्था में भी हाथ का संयोग मानना पड़ेगा। कुछ व्याख्याकारों ने मूसल से गेंद की समता का उदाहरण दिया है कि गेंद ऊपर तो हाथ के संयोग और प्रयत्न से जाती है, परन्तु, नीचे बिना प्रयत्न आती, उसी प्रकार मूसल के नीचे आने में हाथ का प्रयत्न आवश्यक नहीं है। परन्तु गेंद तो ऊपर उछलने पर हाथ से अलग हो जाती है और नीचे गिरते समय भी हाथ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु मूसल के नीचे गिरते समय भी हाथ उसे पकड़े रहता है और उसका यह प्रयत्न तो रहता ही है कि मूसल ओखली में ही पड़े और उसी स्थिति में पड़े, जिसमें कि धान कुटता रहे। इसलिए यही मानना ठीक है कि हाथ के संयोग से ही मूसल में ऊपर जाने और नीचे गिरने की अर्थात् धान कूटने की क्रिया होती है।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

**सूत्रार्थ**—अभिघातजे = चोट देने से उत्पन्न, मुसलादौ = मूसल आदि में, कर्मणि=कर्म होता है, वह, हस्त संयोगः=हाथ

के संयोग का, अकारणम्=कारण नहीं है, क्योंकि व्यतिरेकात्=उससे अलग होने से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—हाथ में लेकर मूसल को जब ओखली में मारते हैं, तब मूसल उस चोट से ऊपर को उठ जाता है, उसके हाथ को कोई प्रयत्न, नहीं करना पड़ना इसमें हाथ का संयोग नहीं, वेग ही कारण है। इसका तात्पर्य यह है कि मूसल के गिरने उठने से एक वेग उत्पन्न हो जाता है। ओखली में बार-बार धक्का लगने से उस वेग में और भी वृद्धि हो जाती है तब हाथ के प्रयत्न के बिना ही गिरता उठता रहता है। जैसे, साइकिल, चलाने वाले साइकिल में एक साथ पैर मार कर उसमें वेग उत्पन्न कर लेते हैं, तब साइकिल समतल या नीची सड़क पर बिना प्रयत्न के ही दौड़ने लगती है अथवा इञ्जन किसी डिब्बे को धक्का मारकर छोड़ देता है तो वह डिब्बा बिना इन्जिन के, केवल वेग के द्वारा ही बहुत दूर तक चलता चला जाता है, वैसे ही ओखली से टकराने पर मूसल में वेग उत्पन्न हो जाता है और गिरता रहता है। उसमें हाथ का प्रयत्न न होने से आत्मा का संयोग भी नहीं रहता और वह आत्म-संयोग इच्छा शक्ति और हाथ के संयोग के बिना ही क्रियाशील रहता है।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ।।४।।

सूत्रार्थ–तथा=वैसे ही आत्म संयोगः=आत्मा का संयोग हस्तकर्मणि=हाथ के द्वारा होने वाली क्रिया में नहीं है।

व्याख्या—मूसल के उठने-गिरने वाली क्रिया वेग से होती है और उसमें हाथ का संयोग अमान्य ठहराया गया है उसी प्रकार हाथके द्वारा होने वाली क्रिया में आत्मा का कोई संयोग नहीं माना जा सकता। इसमें केवल हाथ का और कर्म का संयोग ही होता है क्योंकि कर्म हाथ

के द्वारा होता है, आत्मा द्वारा नहीं होता। कुछ व्याख्याकारों ने इस सूत्र के आशय के हाथ के द्वारा होने वाले कर्म में आत्मा के सहयोग की आवश्यक कहते हुए मन के संयोग से हाथ के द्वारा कर्म होना कहा है।

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

सूत्रार्थ—अभिघातात्=चोट लगने से, मुसल, संयोगात्=मूसल का संयोग है, इससे, हस्ते=हाथ में, कर्म=क्रिया होती है।

व्याख्या—मूसल को ओखली में मारते हैं, तब उस आघात से वेग उत्पन्न होता है और मूसल ऊपर नीचे होता रहता है। उस वेग के द्वारा ही धान कुटता है। परन्तु उसमें हाथ का संयोग यह है कि हाथ उसे पकड़े रहता है। इसमें इच्छा शक्ति का और आत्मा का कोई योग नहीं रहता। मनोयोग की भी आवश्यकता नहीं रहती-यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि धान कूटते हुए भी अन्य बातें होती रहतीं हैं और मन केवल धान कूटने में ही नहीं लगा रहता। सब क्रिया 'वेग' के कारण ही होती रहती हैं। इससे सिद्ध होता है कि हाथ मूसल को पकड़े रहता है परन्तु मूसल में क्रिया चोट लगने से उत्पन्न वेग के कारण ही होती है।

आत्मकर्म हस्त संयोगच्च ॥६॥

सूत्रार्थ—आत्मकर्म शरीर में होने वाली क्रिया, हस्त संयोगात्=हाथ के संयोग से, च=और वेग से होती है।

व्याख्या—इस सूत्र में 'आत्म' पद का अर्थ शरीर से हैं, क्योंकि शरीर में ही वेग के कारण क्रिया हो सकती है, चेतन शरीर में 'वेग' से क्रिया होने का प्रश्न नहीं उठता। ऊपर को उछलता हुआ मूसल हाथ में रहता है और उसके ऊपर उछलने या गिरने की क्रिया वेग से ही होती है, और यही कारण हैं कि सारा शरीर भी उससे हिलता हुआ क्रिया करता रहता है। तात्पर्य यह कि मूसल … होने के कारण

नीचे गिरता है और हाथ उसे पकड़े रहता है, इसलिए मूसल के वेग के साथ ही वह भी गिरता और उठता है। मूसल का वेग हाथ में भी वेग उत्पन्न कर देता है, इस प्रकार क्रिया के संयोग से सब शरीर में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। जैसे भाप-इंजन चलता है इंजन से सब गाड़ियाँ चलती हैं उसमें यथार्थ रूप में चलने की क्रिया भाप से ही उत्पन्न होती है, वैसे ही भारी होने के कारण मूसल ओखली से टकरा कर उछलता है और वेग पैदा होने से ऊपर उठता और नीचे गिरता रहता है। इससे हाथ भी क्रिया करता हैं और हाथ में क्रिया उत्पन्न होने से पूरे शरीर में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर में होने वाली क्रिया, कर्म के द्वारा उत्पन्न वेग से ही होती है।

संयोगाभावेगुरुत्वात् पतनम् ॥७॥

सूत्रार्थ–संयोग अभावे=संयोग का अभाव हो जाने पर, गुरुत्वात् =भारी होने के कारण, पतनम्=गिरता है।

व्याख्या—जब मूसल ऊपर उठता है, तब हाथ का अधिक संयोग माना जाता है परन्तु नीचे गिरते समय हाथ पर कोई जोर नहीं पड़ता और उसे कोई प्रयत्न नहीं करना होता इसलिए हाथ का संयोग न होना कहा है तात्पर्य यह है कि मूसल के नीचे गिरते समय हाथ इसे प्रयत्न पूर्वक नहीं पकड़े रहता बल्कि पकड़ने में केवल इतना ही योग रहता है कि वह इधर-उधर न गिर सके। इस प्रकार संयोग का अभाव होने पर, मूसल भारी होने के कारण पृथ्वी की गुरुत्व-आकर्षण शक्ति के कारण नीचे गिरता है। अर्थात् मूसल के नीचे गिरने में हाथ उसे रोकता नहीं और रुकावट न होने से मूसल स्वयं ही नीचे गिर जाया है।

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यंगगमनम् ॥८॥

सूत्रार्थ—नोदनविशेषाभावात्=बिन विशेष भाव। नोऊर्ध्वम्= ऊपर को नहीं जाता, और, तिर्यग्=तिरछा भी, न=नहीं, गमनम्=

व्याख्या—विशेष क्रिया के बिना मूसल ऊपर को नहीं उछलता अर्थात् चोट मारने से जो क्रिया विशेष यानी वेग उत्पन्न होता है, उसी से वह ऊपर को जाता है तथा प्रयत्न पूर्वक ही वह टेढ़ा तिरछा नहीं चलता। इससे यही सिद्ध होता है कि उसके ऊपर उठने में प्रयत्न विशेष की आवश्यकता है और टेढ़ा-तिरछा न चले गिरते समय सीधा ओखली में ही पड़े, यह कार्य भी प्रयत्न से ही होता है, यदि प्रयत्न अथवा प्रेरणा न हो तो हाथ भी कार्य न करेगा और मूसल में क्रिया हाथ के प्रयत्न से ही उत्पन्न होती है वेग तो प्रयत्न के बाद उत्पन्न होता है। यदि प्रयत्न न किया जाय तो टेढ़ा, तिरछा चलकर ओखली में ही नहीं, चाहे जहाँ गिर सकता है।

प्रयत्नविशेषान्नोदेन विशेष: ॥९॥

सूत्रार्थ—प्रयत्नविशेषात्=प्रयत्न की विशेषता से, नोदनविशेष: =प्रेरणा विशेष होती है।

व्याख्या—आत्मा के प्रयत्न से ही विशेष क्रिया होती है और प्रयत्न की विशेषता ही प्रेरणा की विशेषता मानी गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा तन को प्रेरित करता है और मन इन्द्रियों को प्रेरणा देता है, तब क्रिया उत्पन्न होती है। प्रेरणा जितनी बलवती होती, उतनी ही क्रिया वेग वाली होगी। प्रेरणा ऐसी ही हो कि यह वस्तु पास में गिरे जो उस वस्तु के फेंकने में वेग कम होने से वह पास में ही गिरेगी और दूर गिराने की प्रेरणा होने पर वेग भी अधिक होगा। इस प्रकार इच्छा शक्ति के द्वारा ही कर्म का वेगवान होना सिद्ध होता है।

नोदनविशेषादुदमनविशेष: ॥१०॥

सूत्रार्थ—नोदन विशेषात्=प्रेरणा होने से, उदमन विशेष:=वेग विशेष होता है।

व्याख्या—प्रेरणा के अनुसार ही वेग होता हैं। प्रेरणा से ही गेंद ऊपर जाती है इसमें अधिक वेग होगा तो अधिक ऊँची जायेगी, कम वेग होगा तो कम ऊँची होगी इसके साथ ही वेग का कम या अधिक ऊँचा जाना वस्तु के भार पर ही निर्भर है। अधिक जारी वस्तु कम ऊँची होती और कम भार वाली वस्तु अधिक ऊँची जायेगी। परन्तु वहुत हल्की वस्तु तो ऊँची जा ही न सकेगी, जायेगी तो बड़ी कठिनता से। इस प्रकार प्रेरणा से ही कर्म का सिद्ध होना इस सूत्र में कहा गया है।

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥११॥

**सूत्रार्थ**—हस्तकर्मणा=हाथ के कर्म से, दारक-कर्म=बालक का खेल, व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—इस सूत्र में हाथ की क्रिया पर बालक के खेल का दृष्टांत दिया है कि बालक के हाथ-पाँव आदि अङ्ग आत्मा की प्रेरणा से कार्य करते हैं, परन्तु उसे किसी को हानि लाभ पहुँचाने की इच्छा नहीं होती इसलिए उसके कार्य किसी पाप पुण्य के कारण नहीं होते, वैसे ही हाथ आदि अंगों से होने वाली क्रियाओं में किसी प्रकार पाप-पुण्य का भाव नहीं होता। सभी कर्म आत्मा की प्रेरणा से होते हैं और उन कर्मों में जो दोष आदि के कारण दूसरों के हित की भावना होती है, वही पाप पुण्य का कारण हो सकती है।

तथा दग्धस्य विस्फोटनम् ॥१२॥

**सूत्रार्थ**—तथा=उसी प्रकार, दग्धस्य=जली हुई वस्तु के, विस्फोटनम्=टूटने वाली क्रिया भी भावनात्मक है।

व्याख्या—जैसे आग से जंगल के वृक्ष जल जाते हैं और वे टूट कर इधर-उधर गिरते हैं अथवा पत्थर के टुकड़े आग की गर्मी से तड़क तड़क कर फूटते और उछल कर गिरते हैं, तो यह क्रिया आत्म प्रेरणा

के विरुद्ध ही होती हैं। इसमें इच्छा शक्ति का भी कोई संयोग नहीं होता। यदि जलाने या तोड़ने फोड़ने की क्रिया किसी प्रयत्न विशेष से अपने ही किसी प्रयोजनवश हो तो उसमें किसी दूसरे को हानि लाभ पहुँचाने की भावना नहीं होती और वह पाप पुण्य का कारण नहीं बनती। इसी प्रकार यदि कोई हिंसात्मक कार्य अपनी आत्म रक्षा के लिए किया जाय तो उसमें भी पाप-पुण्य का कोई दोष नहीं लगता, क्योंकि ऐसा कार्य न चाहते हुए भी अपने प्राण की रक्षा के लिऐ करना होता है। जो कार्य दूसरों के हित-अहित के लिए जानबूझ कर किये जाते हैं, वे पुण्य या पाप के कारण कारण बनते हैं।

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—प्रसुप्तस्य=सोये हुए अचेत व्यक्ति के, यत्नाभावे=यत्न न करने के कारण, चलनम्=वायु द्वारा क्रिया होती है।

व्याख्या—सोता हुआ मनुष्य कोई प्रयत्न नहीं कर सकता फिर भी उसमें साँस लेने आदि की क्रिया होती देखी जाती है। उसमें तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु में प्रयोजनपूर्वक कर्म किये जाँय, वे कर्म जीवात्मा के द्वारा प्रयत्न विशेष से ही होते हुए समझने चाहिए, परन्तु जो क्रिया स्वाभाविक रूप से होती हुई दिखाई दे, उसमें आत्मा का प्रयत्न नहीं मानना चाहिए क्योंकि वे कार्य तो प्रकृति के नियमानुसार सामान्य रूप से होते रहते हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं मानी जा सकती।

तृणे कर्म वायु संयोगात् ॥१४॥

सूत्रार्थ—तृणे=घास में, कर्म=क्रिया वायु संयोगात्=वायु के संयोग से होती हुई दिखाई देती है।

व्याख्या—घास, जड़ी, बूटी, वृक्ष आदि में हलने झूलने

बढ़ने आदि की क्रिया वायु संयोग से होते हैं और वे हिलते, झुलते, शब्द करते हुए दिखाई देते हैं, यह भी वायु के कारण ही होता है। इस क्रिया में आत्मा में आत्मा का या शक्ति विशेष का कोई प्रयत्न नहीं होता। इसी प्रकार पागल का हाथ-पाँव हिलाना, उछल-कूद करना या किसी पर आक्रमण करना उसके पागलपन के कारण ही होता है, उनमें आत्मा की कोई प्रेरणा नहीं होती। क्योंकि, पागल का वह कर्म उसकी अचेत अवस्था में होता है और वह भी उसके पूर्व कर्म का फल भोग ही है, जो उसे इस प्रकार का भोगना पड़ता है। इससे यही मानना ठीक है कि जड़ वस्तु में क्रिया वायु के द्वारा होती है और चेतन जीवात्मा के विद्यमान रहते हुए भी शरीर जो क्रिया अचेत अवस्था में करता है वह भी वायु के द्वारा अथवा दैव संयोग से करता है, उसमें आत्मा की प्रेरणा नहीं होती।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—मणि गमनम्=जैसे लोहा चुम्बक की ओर चलता है अथवा, सूच्यभिसर्पणम्=सुई चुम्बक की ओर सरकती है, अदृष्ट कारणम्=अदृष्ट कारण ही है।

व्याख्या—अदृष्ट कारण का तात्पर्य यहाँ आकर्षण शक्ति से है। लोहे का चलना चुम्बक की आकर्षण शक्ति के कारण ही होता है। परन्तु, वह शक्ति दिखाई नहीं देती। जैसे चुम्बक के पास लोहा स्वयं पहुँचता है, वैसे ही जीवात्मा के पूर्व कर्म अनुसार भोग-साधन रूप वस्तुएँ जीवात्मा को स्वयं मिल जाती हैं, उसके लिए उसे कुछ प्रयत्न नहीं करना होता। इस फल भोग रूप साधन की प्राप्ति अदृष्ट द्वारा ही मानी जाती है। क्योंकि अदृष्ट का तात्पर्य पूर्व जन्म के कर्मों से भी है।

इषावयुगपत् संयोगविशेषः कर्मान्यत्वेहेतुः ॥१६॥

सूत्रार्थ—इषौ=प्रत्यंचा से निकला हुआ तीर, अयुगपत्=

अनेक समयों में, संयोगविशेषः=विशेष संयोग की प्राप्ति होने पर कर्मान्यत्वे=कर्म भिन्न होने में, हेतुः=कारण रूप है।

व्याख्या—तीर में, अनेक समयों में होने वाले विशेष कर्म विभिन्न कर्मों के कारण हैं। जब तीर की धनुष को डोरी से छोड़ते हैं, तब वह वेग से चलता हुआ अनेक क्रियायें करने में समर्थ होता है। अनेक वस्तुओं को छेदता हुआ चलना या किसी दीवार आदि में टकराकर गिरना या किसी वस्तु से टकराकर उछटना और किसी अन्य वस्तु में घुसकर उसे छेद देना आदि कर्म संयोग से उत्पन्न कर्म विशेष के कारण ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि तीर चलाने वाला जिस उद्देश्य से तीर चलाता है, यदि उस उद्देश्य की पूर्ति न हो तो वह संयोग वश ही माना जायगा। जैसे, तीर चलाने वाले ने एक पक्षी को लक्ष्य बनाया, उस समय मार्ग भी साफ था और यह प्रत्यक्ष सम्भावना थी कि तीर उस पक्षी के ही लगेगा, परन्तु अकस्मात् कोई वस्तु ऐसी बीच में आ जाय जिससे टकराकर तीर किसी और वस्तु पर जाकर उसे नष्ट कर दे, तो यह विरुद्ध कर्म संयोगवश ही होगा। इसमें धनुष चलाने वाले की आत्मा, मन हाथ और प्रत्यंचा ये चार कारण उस तीर को छोड़ने में हैं, परन्तु बीच में जो विभिन्न कर्म उत्पन्न हुए अथवा तीर नष्ट हो गया यह संयोंगवश होना ही सिद्ध होता है।

नोदनादिषोआद्यं कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारा-
दुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च ॥१७॥

सूत्रार्थ—नोननात्=प्रेरणा से, इषोः=तीर का, आद्यम्=प्रथम, कर्म=कर्म होता है, च=और, तत्कर्मकारितात्=उससे कर्त्तापन से, संस्करात्=संस्कार वश, उत्तमम्=आगे का, तथा=उसी प्रकार उत्तरम्=उससे आगे का, च=और, उत्तरम्=उससे भी आगे का कर्म

व्याख्या—तीर की जो पहिली क्रिया अर्थात् उसे प्रत्यंचा से छोड़ने वाला कर्म प्रेरणावश होता है। उस प्रथम कर्म से ही संस्कार उत्पन्न होता है, वह संस्कार तीर के वेग से चलने से देखा जाता है अर्थात् तीर में जो वेग उत्पन्न होता है वह संस्कार है। उस वेग से तीर में कर्म उत्पन्न होता है, क्योंकि यदि वेग न होगा तो वह बेधने आदि की क्रिया नहीं कर सकता और न लक्ष्य पर ही पहुँच सकता है। उस कर्म से दूसरा कर्म और दूसरे कर्म से तीसरा कर्म उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय तीर छोड़ा जाता है उस समय लक्ष्य भेद ही उस तीर का कर्म समझा जाता है, परन्तु वेग से चलने के कारण लक्ष्य के बीच में कोई बेधने योग्य वस्तु आ जाय तो उसे बेधता हुआ आगे बढ़ता है, इस प्रकार वेग के द्वारा बीच की वस्तु को बेधने को कर्म उत्पन्न हुआ और बीच की वस्तु को बेधने से यदि वेग कम हो गया तो लक्ष्य पर न पहुँचकर बीच में ही गिर गया, यह गिरना रूप कर्म, उस बीच के बेधने से ही उत्पन्न हुआ और गिरते हुए भी उसने यदि किसी और वस्तु को बेध डाला तो वह कर्म गिरने से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कर्म का उत्पन्न होना मानना चाहिए।

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—संस्कार अभावे=संस्कार के न रहने पर, गुरुत्वात्=बोझ होने से, पतनम्=गिरता है।

व्याख्या—जब तीर में वेग नहीं रहता, तब वह बोझ के कारण गिर जाता है। क्योंकि, सभी वस्तुएँ, जिनमें भार होता है, पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से गिर जाती है। पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण को संस्कार अर्थात् वेग ही रोके रखता है और जब वेग समाप्त हो जाता है, तब पृथिवी का आकर्षण रोकने वाला कोई आधार नहीं रहता, इसलिए तीर को नीचे गिरना ही होता है। जैसे वायुयान का इंजन चलता रहता है, तब तक वायुयान भी चलता है और किसी गड़बड़ी से इंजन

बन्द हो जाता है तो वायुयान गिर जाता है और दुर्घटना हो जाती है, इस प्रकार पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण सब निराधार वस्तुएँ गिर जाती हैं।

॥ पञ्चमोऽध्यायः प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

# पञ्चमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥

सूत्रार्थ—नोदनाभिघातात्=प्रेरणा के आघात से, च=और संयुक्त संयोगात्=मिले हुए पदार्थों के संयोग से, पृथिव्याम्=पृथिवी में कर्म—क्रिया होती है।

व्याख्या—पृथिवी में जो कर्म होता है, वह प्रेरणा से या आघात आदि से होता है, वह प्रेरणा दैवी समझनी चाहिए। अर्थात् परमात्मा के सब में व्याप्त होने से अचेतन आदि में गति या कम्पन आदि क्रिया होती है। क्योंकि, अचेतन वस्तुओं में स्वाभाविक क्रिया नहीं होती, यदि होती तो सभी वस्तु क्रिया करती हुई दिखाई देतीं। जब कोई व्यक्ति किसी अचेतन वस्तु में गति उत्पन्न करता है, तभी वह क्रिया शील होती है। इस प्रकार पृथिवी दैवी प्रेरणा से और द्रव्यों के संयोग से सूर्य के चारों ओर घूमती है और उस गति के साथ ही विस्फोटक द्रव्यों का संयोग पाकर फटती या हिलती है 'संयुक्त संयोगात' पद से तात्पर्य पृथिवी के परमात्मा होने से है इसलिए इस सूत्र के अर्थ में दैवी प्रेरणा कहा गया है।

तद्विशेषणाऽदृष्टकारितम् ॥२॥

सूत्रार्थ—तत्-विशेषण=पृथिवी की क्रिया विशेष, अदृष्ट कारितम् =अदृष्ट का ही कार्य समझना चाहिए।

व्याख्या—पृथिवी में जो भूकम्प आदि विशेष क्रियायें होतीं हैं, उनका कारण प्रत्यक्ष नहीं है, बल्कि अदृष्ट अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा ही है। क्योंकि, भूकम्प आदि के प्रमाण स्वरूप जिनको हानि होती या कष्ट पहुँचता है, वह सब उनके कर्मफल भोग के रूप में ही होता है। इस प्रकार जीवात्माओं को प्रारब्ध कर्म का फल देने के लिए ही ईश्वर की प्रेरणा से भूकम्प या पृथिवी का फटना आदि क्रियायें होती है। यह क्रिया निरर्थक नहीं होती, उसका कारण अदृष्ट ही है, उसी के द्वारा जीवात्माओं को सुख दुःख रूप फल-भोग की प्राप्ति होती है।

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ।।३।।

सूत्रार्थ—अपाम्=पानी, संयोग-अभावे=संयोग के अभाव से गुरुत्वात्=भारी होने के कारण, पतनम्=गिरता है।

व्याख्या—पानी भारी होता ही है और जब उसे रोकने का कोई आधार नहीं होता, तब वह पृथिवी की गुरुत्व आकर्षण शक्ति से खिंच कर नीचे गिरता है। जग वर्षा होती है तब, पानी नीचें गिरता है। मार्ग में कोई छत आदि होती है, तो उस पर रुक जाता है और पनाला आदि होता है तो उसके द्वारा निकलकर पृथिवी पर गिर जाता है। उसे जैसे-जैसे नीची भूमि मिलती जाती है, वैसे-वैसे ही बहता जाता है।

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ।।४।।

सूत्रार्थ—द्रवत्वात्=पतला होने के कारण, स्यन्दनम्=नीचे की ओर बहता है।

व्याख्या—पानी गीला और पतला होता है, जितनी भी पतली वस्तु है, वे सब नीचे को बहने वाली होती है। पानी भी नीचे की ओर बहता है। क्योंकि वर्षा की बूंदे पृथिवी पर गिर कर परस्पर मिलती हैं और पानी की धारा के रूप में हो जाती हैं, इसलिए जल को समवायि अर्थात् मिला हुआ मानते हैं और इसका जो कर्म बहना आदि है वह

असमवायि अर्थात् बिना संयोग के माना गया है और जल में भारीपन ही उसके गिरने का हेतु अर्थात् निमित्त कारण समझना चाहिए। जल का पतलापन ही द्रवत्व है उसी के कारण उसमें बहना पाया जाता है।

नाड्य वायुसयोगादारोहणम् ॥५॥

**सूत्रार्थ**—नाड्य वायुसंयोगात्=सूर्यरश्मि और वायु के संयोग से, आरोहणम्=ऊपर को चढ़ता है।

**व्याख्या**—पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है, परन्तु, वह सूर्य की किरणों और वायु के संयोग से ऊपर चढ़ता है। वायु के साथ मिली हुई किरणें ग्रीष्म ऋतु में जल को ऊपर खींचती हैं और जब किरणें निर्बल हो जाती है, उनमें गर्मी नहीं रहती तब उनका संयोग वायु के साथ नहीं रहता, इससे पानी गिरने लगता है। वर्षा ऋतु में बिजली का कड़कड़ाना भी वायु और सूर्य किरणों को नष्ट करता है।

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥

**सूत्रार्थ**—नोदनापीडनात्=वायु की प्रेरणा और दबाव से संयुक्त-संयोगात्=संयुक्त संयोग के कारण जल उड़ने लगता है।

**व्याख्या**—वायु के बलवान होने पर उसके दबाव से जल के कण अलग-अलग होकर किरणों और वायु से मिलकर ऊपर की ओर उड़ने लगते हैं। ग्रीष्म ऋतु में नदियों का पानी जल्दी-जल्दी सूखने लगता है, उसका यही कारण है कि धूप तेज होती है, वायु की हिलोर से पानी उछलता है और सूर्य की किरणें पानी के कणों को अपने में समेट कर ऊपर ले जाती है। इसी प्रकार गर्म होते हुए पानी को देखा जाता है कि वह अग्नि के ताप से उबलता और वायु का संयोग पाकर उड़ता है। भाप बनकर पानी को उड़ते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं। इसके सिवा अन्य कारण से भी जल ऊपर चढ़ता है, यह अगले सूत्र में बताते हैं—

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥७॥

सूत्रार्थ–इति=यह, वृषाभिसर्पणम्=वृक्ष की ओर पानी खिचना अदृष्टकारितम्=अदृष्ट के कारण से हैं।

व्याख्या—वृक्ष की जड़ में जो पानी सींचा जाता है, वह पानी वृक्ष के भीतर खिचकर ऊपर की ओर भी जाता है, इसी से वृक्ष की प्रेरणा से कर्मफल भोग रूप से वह पानी वृक्ष से खिचकर उसे बढ़ाता है। क्योंकि, वृक्षों में भी जीवात्मा है और उन्हें भी कर्मफल भोग रूप साधन उपलब्ध होते रहते हैं। परन्तु, उन साधनों की प्राप्ति में ईश्वरीय प्रेरणा ही कार्य करती है। यहाँ अदृष्ट का तात्पर्य ईश्वरीय-प्रेरणा से ही समझना चाहिए।

अपां संघातो विलयनञ्च तेजः संयोगात् ॥८॥

सूत्रार्थ—अपाम्=जल का, संघातः जमना, च=और, विलयनम्=गलकर पतला होना, तेजः संयोगात्=तेज के संयोग से होता है।

व्याख्या—जल जम कर बर्फ हो जाता है और बर्फ से गल कर पतला हो जाता है उसकी यह क्रिया तेज के संयोग से होती है। बिजली से जब पानी के परमाणु रोके जाने पर द्वयणुक में पतलेपन को उत्पन्न नहीं होने देते, तब उन द्वयणुकों से बर्फ या ओले बनते हैं और जब गर्मी से बर्फ या ओले पिघल जाते हैं तब वह फिर पानी के रूप में हो जाते हैं। जल के जमने या पिघलने की क्रियायें तेज के कारण ही होती हैं। जब तेज बर्फ बनाने वाले परमाणुओं पर तीव्र प्रभाव डालकर विभाग वाली क्रिया उत्पन्न ही करता है तब बर्फ या ओले बन जाते हैं और जब विभाग वाली क्रिया नष्ट हो जाती है, तब द्रवयत्न उत्पन्न होने से जल हो जाता। 'इस प्रकार इन दोनों क्रियाओं का कारण 'तेज' का होना सिद्ध होता है।

तम विस्फूर्जथुः लिङ्गम् ।।९।।

सूत्रार्थ—तत्र=उसमें, विस्फूर्जथु:=विद्युत का दमकना और तड़तड़ाना ही, लिगम्=प्रमाण है।

व्याख्या—आकाश में कौन-सा तेज है? यह शंका होने पर उत्तर देते हैं कि आकाश में बिजली रूप तेज है और उसका लक्षण दमकना और तड़फड़ाना है। जब ओले बरसते हैं तब बिजली का चमकना और तड़फड़ाना प्रत्यक्ष देखा जाता है इससे सिद्ध हो जाता है कि जिस आकाश में बर्षा के बादल विद्यमान हैं और जिससे ओले गिरते हैं, उस आकाश में विद्युत रूपी तेज भी स्थित है। यही तेज ओलों के रूप में पानी को जमाने और उसे गलाकर पानी कर देने में कारण रूप है।

वैदिकंच ।।१०।।

सूत्रार्थ—च=और यह बात, वैदिकम्=वेद के प्रमाण से भी सम्पुष्ट होती है।

व्याख्या—पानी को जमाने या उसे गलाने में तेज का कारण रूप होना वेद-प्रमाण से भी सिद्ध होता है। यजुर्वेद (१२-७) "गर्भोऽस्यौषधीनां गर्भोवनस्पतीनाम् गर्भोविश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसि" अर्थात् 'हे अग्ने ! तुम औषधियों के गर्भरूप हो, वनस्पतियों के गर्भरूप तथा सब प्राणियों के रूप होते हुए उनके उत्पन्न करने वाले तथा समस्त जलों के भी गर्भ रूप हो।' सामवेद (१-३-७) अग्निमूर्द्धादिव: ककुत्पति पृथिव्या अयम् अपारेतांसि जिन्वति" अर्थात् स्वर्ग से भी महान् देवताओं में श्रेष्ठ, पृथिवी का अधीश्वर यह अग्नि जलों के सार रूपों को जीवन

अपां संयोगाद्विभागाश्च स्तनयित्नः ।।११।।

सूत्रार्थ—अपाम् = जलों के, संयोगात्=संयोग से, च =

और, विभागात्=विभाग से, स्तनयित्नः=विद्युत चमकती कड़कती है।

व्याख्या—जलों के मिलने और उनके विभाजित होने से बिजली चमकती और कड़कती है क्योंकि जल से भरे हुए दो बादलों के परस्पर संघर्ष से जो रगड़ उत्पन्न होती है, उसी से विद्युत पैदा होकर कड़कती है। बादलों का परस्पर मिलना या संघर्ष करना वायु के कारण होता है। इसी संघर्ष के परिणाम स्वरूप बादल गरजते हैं। एक बादल इधर से चला, दूसरा उधर से आया और आपस में टकरा गये, इससे रगड़ उत्पन्न होती है वह रगड़ ही बिजली है। जैसे काठ को काठ से रगड़ने पर आग उत्पन्न होती है या लोहे को लोहे से रगड़ें तो चिनगारियाँ निकलने लगती हैं, वैसे ही बादलों के आपस में टकराने से रगड़ उत्पन्न होकर बिजली बन जाती है। यही इस सूत्र का आशय हैं।

पृथिवी कर्मणा तेजः कर्म वायूकर्म च व्याख्यातम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—पृथिवी कर्मणा=पृथिवी की क्रिया के साथ, तेजः कर्म=तेज की क्रिया, च=और, वायुकर्म=वायु की क्रिया भी, व्याख्यातम्=कही गयी समझनी चाहिए।

व्याख्या—जैसे अदृष्ट की प्रे[illegible] [illegible]थिवी की क्रिया काँपना फटना आदि कही गई है, वैसे ही [illegible] तेज की क्रिया और वायु की क्रिया भी समझनी चाहिए [illegible] आदि के परिणाम से जीवों को उनके अदृष्ट कर्मों का फल प्राप्त होता हैं, वैसे ही तेज की क्रिया अर्थात् आग लगने आदि से जो हानि होती हैं या हवा आँधी आदि से पेड़ गिर जाते या मकान आदि फट जाते हैं, उनसे जो हानि होतीं हैं, वह भी अदृष्ट के कारण ही अर्थात् पूर्व कर्मों के फल-भोगरूप में प्राप्त होना ही समझनी चाहिए। इस प्रकार की क्रिया में ईश्वर की कर्मफल प्राप्त कराने वाली प्रेरणा ही एकमात्र कारण हैं।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनम् वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ॥१३॥

सूत्रार्थ–अग्नेः=अग्नि का, ऊर्ध्वज्वलनम्=ऊपर की ओर जलना वायोः=वायु की, तिर्यक्पवनम्=तिरछी गति होना, अणूनाम्=अणुओं का, च=और, मनसः=मन का, आद्यम्=प्रथम्, कर्म=कर्म, अदृष्टकारितम्=अदृष्टम् के ही यह सब कार्य हैं।

व्याख्या–अग्नि के जलने पर ऊपर की ओर लपट निकलना, वायु का टेढ़ा, तिरछा तथा जोर से चलना, यह सब अदृष्ट के हीं कार्य हैं और परमाणुओं में तथा मन में भी जो पूर्व क्रिया होती है, वह भी अदृष्ट का ही परिणाम समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि संसार के जितने भी कार्य हैं वे सब जीवात्माओं को उनके अदृष्ट कर्म के फल को भोगने के लिए साधन मात्र है। अग्नि को प्रज्वलित करने में मनुष्य का प्रयत्न हो सकता है, परन्तु प्रज्वलित होने के बाद उसकी लपट ऊपर की ओर उठती है। यह मनुष्य के वश की बात नहीं कि लपटों को ऊपर उठने से रोक सके, तह तो अग्नि का स्वभाविक कर्म है। उन लपटों के ऊपर उठने से अन्न पाक अथवा रासायनिक आदि क्रियाओं द्वारा जो हित-साधन हो, या आग लगाकर सम्पत्ति या शरीर जलकर हानि होती हो, यह सब [illegible] कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों के फल भोग रूप समझने [illegible], यह कारण प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, इस लिए इसे अदृष्ट [illegible] है इसी प्रकार वायु की क्रियायों, परमाणुओं के और मन के कार्य भी अदृष्ट फल रूप से उपलब्ध हुए मानने चाहिए।

हस्तकर्मणा मनसः कर्मः व्याख्यातम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—हस्त कर्मणा=हाथ के द्वारा होने वाले कर्म से, मनसः =मन का, कर्म=कर्म व्याख्यातम्=[illegible] है।

व्याख्या—जैसे जीवात्मा की प्रेरणा से हाथ कर्म करता है, वैसे ही मन भी कर्म करता है। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि मन व्यापक नहीं है, वह अणु है। एक समय में मन एक विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकता। जिस समय सुख का ज्ञान है, उस समय दुःख का ज्ञान नहीं होगा और दुःख का ज्ञान है उस समय सुख का नहीं हो सकता। जब तक इन्द्रिययों और मन का सम्पर्क न हो, तब तक इन्द्रिय किसी विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। इससे सिद्ध होता है कि मन में कर्म है और उसी के द्वारा सुख दुःख की अनुभूति होती है। इस लिए सूत्रकार ने हाथ की क्रिया के समान ही मन की क्रिया मानी है।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थः सन्निकर्षात् सुख-दुःखे ।।१५।।

सूत्रार्थ—आत्म=आत्मा, इन्द्रिय=इन्द्रियाँ, मनः=मन और, अर्थः—विषय, सन्निकर्षात्=परम्परा के स्पर्श से, सुख दुःखे=सुख दुःख का अनुभव करते हैं।

व्याख्या—आत्मा का सम्बन्ध मन से है, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषयों से, इसलिए आत्मा, मन और इन्द्रियाँ पारस्परिक सम्पर्क सुख दुःख का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करके मन के पास पहुँचती है, जैसे, जिस विषय को नेत्र देखते हैं, वह विषय मन के पास पहुँचता है और मन से आत्मा उस विषय को ग्रहण करती है। जब मन इन्द्रियों से उदास होता है, तब इन्द्रियाँ किसी विषय को ग्रहण नहीं करती। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सामने जो दृश्य है, उसे नेत्र देख रहा है, परन्तु मन कहीं और लगा है तो सामने का दृश्य अनदेखा हो जायेगा। जब हम किसी कार्य विशेष में लगे होते हैं, तब कोई व्यक्ति सामने से निकल जाता है, उसे देखते हुए भी, मन के अन्यत्र लगे रहने से, उस व्यक्ति के सामने से,

निकल जाने का ज्ञान हमको नहीं हो पाता। इसी से मन का कर्म करना सिद्ध होता है।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि, शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥१६॥

सूत्रार्थ—मनसि = मन के, आत्मस्थे = आत्मा में स्थित हो जाने पर, तदनारम्भः = इन्द्रियों द्वारा उन विषयों को ग्रहण करना आरम्भ नहीं होता, और शरीरस्य = शारीरिक, दुःखाभावः = दुःख का अभाव हो जाता है, संयोगः = वह योग है।

व्याख्या—योग की अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को ग्रहण करना छोड़ देती हैं, क्योंकि, मन में आत्मा स्थित हो जाता है, अर्थात् मन इन्द्रियों से सम्बन्ध छोड़कर आत्मचिन्तन में लग जाता है, तब इन्द्रियों को विषयों के ग्रहण करने की प्रेरणा मन से नहीं मिल पाती और वे विषयों को ग्रहण नहीं करतीं। उस समय दुःख रूप विषयों का त्याग होने से ही सूत्रकार ने दुःख का अभाव होना कहा है। जब दुःख की अनुभूति समाप्त हो गई, तब जिस कार्य में सुख मिले, उसमें प्रवृति का होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार इन्द्रियों का सम्बन्ध ही दुःख है और उनसे सम्बन्ध विच्छेद होना ही सुख है। इस प्रकार विषयों का त्याग करना ही दुःख का अभाव है और मन का आत्म-ज्ञान में लगना ही योग सिद्ध होती हैं।

अपसर्पणमुपसर्पणमशनपीतसंयोगाः कार्यान्तर संयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥१७॥

सूत्रार्थ—अपसर्पणम् = बाहर निकलना, उपसर्पणम् = निकट पहुँचना, अशनपीतसंयोगा = खान-पान का संयोग, व अ

और, कार्यान्तर-संयोगा=कार्यों की भिन्नता के संयोग, अदृष्टकारितानि=अदृष्ट के ही कार्य हैं।

व्याख्या—प्राण और मन का एक शरीर से निकल कर आत्मा के साथ दूसरे शरीर में जाना और दूसरे शरीर को खान-पान से संयोग से प्राप्त करना तथा कार्यों की भिन्नता का संयोग होना यह सब अदृष्ट कर्मों के अनुसार ही होता है। इस सूत्र रूत्र में खान पान के संयोग का तात्पर्य माता पिता के खान-पान से बने रज-बीर्य से है और कार्य-भिन्नता का आशय पूर्व शरीर को छोड़कर नये शरीर की प्राप्ति के लिए माता के गर्भ में स्थित होना, माता भोजन ग्रहण करना, फिर गर्भ से उत्पन्न होना है। इस प्रकार जीवात्मा अपने प्राण और मन के साथ पूर्व देह को छोड़कर नवीन देह प्राप्त करता है और यह कार्य उसके पूर्व कर्मों के फल भोग की प्राप्ति के रूप में जीवात्मा को उपलब्ध होते हैं। इसिलिए सूत्रकार ने इसे अदृष्ट कहा है।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥१८॥

सूत्रार्थ–तत्-अभावे=इस कर्म के आरम्भ न होने में संयोग अभावः=संयोग का अभाव होता है, च=और, अप्रादुर्भावः=उत्पत्ति नहीं होती, मोक्ष=यही, अवस्था मोक्ष कही जाती है।

व्याख्या—यदि प्राण और मन आत्मा के साथ, एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में न जाये और आत्मा नयी गर्भावस्था को प्राप्त न करे तो जन्म लेना ही बन्द हो जाय। अर्थात् जीवात्मा विषयों को छोड़कर आत्म-चिन्तन में लगकर जब योगावथा को प्राप्त कर लेता है तब वह सूक्ष्म शरीर को भी त्याग देता है। उस समय ज्ञान हो जाने से राग द्वेष नष्ट हो जाते हैं और अदृष्ट कर्मों का भी क्षय हो जाने से उसका फल-भोग भी समाप्त हो जाता है। जब प्राण और मन की

एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में ले जाने वाला कर्म-फल रूप. भोग ही समाप्त हो गया तो पुनर्जन्म ग्रहण करने का भी कुछ कारण नहीं रह जाता। जब वह कारण नहीं रहा, तब शरीर त्यागने के बाद आत्मा को मुक्त अवस्था प्राप्त होगी ही। इस प्रकार पुनर्जन्म ग्रहण करना समाप्त होना ही मोक्ष की अवस्था है। यहाँ संयोग का अभाव होने से शरीर का त्यागना और दूसरे शरीर में न जाना ही समझना चाहिए, इसी को मोक्ष कहा गया है।

द्रव्यगुण कर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तम: ॥१९॥

सूत्रार्थ--द्रव्यगुणकर्म=द्रव्य, गुण और कर्म की, निष्पत्ति= सिद्धि के, वैधर्म्यात्=विरुद्ध लक्षण होने से अभाव:=प्रकाश का अभाव होना, तम:=अंधकार है।

व्याख्या—प्रकाश का न होना ही अंधकार है और अन्धकार द्रव्य गुण, कर्म इन तीनों में से एक भी नहीं है इसमें तो इन तीनों के लक्षणों से विरुद्ध चिह्न पाये जाते हैं। जिस द्रव्य में रूप होगा, उसमें स्पर्श भी होगा, अन्धकार में तो है, परन्तु स्पर्श का अभाव है, इसलिए उसे द्रव्य नहीं कह सकते। केवल रूप मात्र होने से गुण भी नहीं मान सकते और कर्म तो उसमें है ही नहीं। रूप इतना ही है कि नेत्रों से कुछ दिखाई नहीं देता, वास्तव में रूप तो प्रकाश में ही है। इस प्रकार अन्धकार में द्रव्य गुण और कर्म में से किसी के भी लक्षण नहीं मिलने से उसे इन तीनों से अलग ही मानना होगा।

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥२०॥

सूत्रार्थ—तेजस:=तेज में, द्रव्यान्तरेण=द्रव्य के अन्तर का आव-रणात्=आवरण होने से च=भी प्रकाश का अभाव अन्धकार है

व्याख्या—प्रकाश पर दूसरे द्रव्य का पर्दा पड़ जाना ही तेज में द्रव्य का अन्तर होना कहा है। इस प्रकार तेज अर्थात् प्रकाश का छिप जाना ही अन्धकार है। इससे यही मानना ठीक है कि अन्धकार कोई द्रव्य नहीं है, प्रकाश के छिपते ही अँधेरा हो जाता है। इसलिए मनुष्य का अभाव ही अन्धकार है। यदि कोई व्यक्ति चलता हैं, तभी उसकी छाया होगी, यदि न चले तो छाया कहाँ से चलेगी? इसलिए मनुष्य चलता है, परन्तु चलने का जो भ्रम छाया में होता है, वह मिथ्या है। इस प्रकार के अभाव का रूप अन्धकार को कोई द्रव्य आदि नहीं मान सकते।

दिक्कालाकाशञ्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

सूत्रार्थ—दिक्काल:=दिशा और कार्य, च=तथा, आकाशम्=आकाश, निष्क्रयाणि=क्रिया रहित हैं, क्रियावद्वैधर्म्यात्=क्रिया वाले पदार्थों से भिन्न होने के कारण ऐसा ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—क्रिया प्रत्यक्ष पदार्थों में होती है, दिशा और काल प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते इसलिए इन्हें क्रिया वाले पदार्थों से विरुद्ध लक्षण वाले होना कहा। अथवा क्रिया अनन्त पदार्थों में नहीं, एक देशीय पदार्थों में होती है और दिशा सर्वत्र विद्यमान होने से अनन्त हैं तथा काल ही व्यापक है, इसलिए उनमें क्रिया का अभाव है अर्थात् वे चलना, फिरना, उछलना, तोड़ना आदि कार्य नहीं कर सकते। इस लिए दिशा काल का निष्क्रिय होना माना गया है।

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याता: ॥२२॥

सूत्रार्थ—एतेन—इसी प्रकार, कर्माणि=कर्म, च=और, गुणा:=गुणों को, व्याखयाता:=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे आकाश, काल और दिशा को क्रिया रहित रहा

गया, वैसे ही कर्म और गुण में भी क्रिया नहीं होती। क्योंकि कर्म और गुण भी मूर्तिवान नहीं हैं और जो मूर्तिवान अर्थात् आकार वाला नहीं वह चल फिर कैसे सकता है? इस प्रकार आकाश, काल और दिशा के समान ही कर्म और गुण भी क्रिया-रहित मानने चाहिए। यही इस सूत्र का तात्पर्य।

निष्क्रियाणां समवायाः कर्मेभ्यो निषिद्ध ॥२३॥

**सूत्रार्थ**–निष्क्रियाणाम्=क्रिया-रहित गुण और कर्म का समवायः =संयोग होता है, परन्तु उसका कर्मेभ्यः=कर्म से होना, निषिद्ध= नहीं माना है।

**व्याख्या**–जो क्रिया-रहित गुण कर्म हैं उनका द्रव्य के साथ सम्बन्ध रहता है, परन्तु वह कर्म के द्वारा उत्पन्न नहीं होता, उनका पारस्परिक सम्बन्ध कर्म पर निर्भर होते हुए भी सम्बन्ध का उत्पन्न नहीं माना गया। क्योंकि, द्रव्य गुण दोनों कर्म होने से परस्पर मिले रहते हैं। जैसे स्वर्ण का गुण अग्नि पर पिघला है तो वह कर्म द्वारा पिघल सकता है अर्थात् स्वर्णकार उसे आग पर रखेगा, तभी सोना पिघलेगा अन्यथा नहीं पिघलेगा। इस प्रकार कर्म से द्रव्य और गुण मिले रहते हैं परन्तु कर्म से गुण का उत्पन्न होना नहीं माना जाता।

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥२४॥

**सूत्रार्थ**—गुणाः=गुण, कारणम्=कारण रूप कर्म उत्पन्न होते हैं, तु=तो भी वे, असमवायिनः=समवायि नहीं कहे जाते।

**व्याख्या**—सम्बन्ध का उत्पन्न होना न मानने पर भी कर्म से गुण का और गुण से कर्म का उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। क्योंकि स्वर्णकार के कर्म से स्वर्ण पिघलेगा, स्वर्णकार का कर्म न होगा तो स्वर्ण भी नहीं पिघल सकता। परन्तु कर्म [illegible] उत्पन्न होने का कारण

संयोगादि गुण असमवायी कारण ही कहलाते हैं, समवायि नहीं कहे जाते। जो कारण कार्य के साथ हर समय नहीं रहता है, उसे समवायि कारण कहते हैं और जो कार्य के साथ हर समय रहता, वह असमवायि कारण है। कर्म कार्य के साथ हमेशा नहीं रहता, वह कार्य उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है, इसलिए कर्म कार्य का समवायि कारण नहीं हो सकता। जैसे घड़े को बनाकर कुम्भकार अपने कार्य से निवृत्त हो गया तो कर्म भी समाप्त हो गया। अब कर्म के बिना घड़े का अस्तित्व तो रहेगा ही। इसी प्रकार गुण भी कर्म का समवायि कारण नहीं हो सकता।

गुणैदिग्व्याख्याता ॥२३॥

सूत्रार्थ—गुणै= गुणों से, दिग् = दिशाओं के सम्बन्ध में, व्याख्याताँ=कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—गुण को कर्म का समवायि कारण न होना कहा गया है, वैसे ही दिशा भी कर्म का समवायि कारण नहीं हैं। क्योंकि दिशा का कोई मूर्ति रूप अर्थात् आकार-प्रकार नहीं है। दिशा आधार तो है, जैसे कहते हैं कि मुझे पूर्व दिशा में जाना है तो यहाँ पूर्व दिशा आधार हैं, परन्तु जाने वाले के लिऐ समवायि कारण नहीं है। जो समवायि कारण न हो, वह भी आधार हो सकता है, जैसे घर में मनुष्य हैं तो घर मनुष्य का आधार है, समवायि कारण नहीं है।

कारणेन कालः ॥२६॥

सूत्रार्थ—कारणेन=निमित्त कारण होने से काल=काल को भी आधार ही समझना चाहिए।

व्याख्या—काल भी किसी क्रिया को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए समवायि कारण नहीं है, उसे भी केवल आधार मान सकते हैं। जैसे.

वस्त्र के बुनने में धागा समवायि कारण है परन्तु तांत उनका समवाय कारण नहीं हो सकता, वैसें ही काल किसी कर्म का समवाय कारण नहीं निमित्त कारण हो सकता है। क्योंकि वह कर्म कारने निमित्त मात्र ही है। साथ ही, काल भी अमूर्त्त अर्थात् बिना रूप वाला है और क्रिया मूर्त्त पदार्थों में ही होती है, अमूर्त्त पदार्थ में नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि काल आधार ही है, समवायि कारण नहीं।

॥ पञ्चमोऽध्यायः द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ॥

# षष्ठोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिवेदे ॥१॥

सूत्रार्थ—वेदे=वेद में, वाक्य कृतिः=वाक्यों की रचना, बुद्धि-पूर्वा=बुद्धि पूर्वक हुई हैं।

व्याख्या—ज्ञान के सभी साधन बुद्धि से ही उपलब्ध हुए हैं। जिस मनुष्य में बुद्धि नहीं, वही मूर्ख कहा जाता है। यही बुद्धि का अभाव हैं तो समझने की शक्ति भी नहीं हो सकती। बुद्धि की तीव्रता होने पर ही ज्ञान के रहस्य समझ में आने लगते हैं। इसलिए बुद्धि को परिपक्व करने का विधान किया गया। शिक्षा द्वारा बुद्धि परिपक्व होती है और शिक्षित मनुष्य ही ज्ञान रहस्य समझने में समर्थ हो सकता है। वेद वाक्यों की रचना उसी बुद्धि का परिणाम है और वे वाक्य अज्ञानियों को सुबुद्धि देने में सहायक सिद्ध होते हैं यदि यह कहें तो बुद्धि तो मनुष्य-मनुष्य का स्वभाविक गुण है, तो स्वाभाविक होने पर सब मनुष्यों में एक-सी बुद्धि नहीं होती किसी में कम, किसी में अधिक होना पाया जाता है। इसलिए बुद्धि का होना नैमित्तिक ही समझना चाहिए। जो अपनी बुद्धि को विषयों में लगाये रखे तो उसकी बुद्धि विषय हेतु वाली होगी और ज्ञान मार्ग में लगने पर ज्ञान हेतु वाली होगी। जिन्होंने वेदों की रचना की, वे मन्त्र द्रष्टा ऋषि परिष्कृत अर्थात् मजी हुई बुद्धि वाले थे, जिन्होंने वेद जैसे ज्ञान के भण्डार को जन-कल्याण के लिए प्रस्तुत किया। रचना वही कर सकता है जो स्वयं अपने विषय में पूर्ण पारङ्गत होगा, जिसे,

विषय का ज्ञान न हो, वह किसी प्रकार की रचना करने में समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार, प्रखर बुद्धि द्वारा ही वेद- वाक्य रचे गये हैं।

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धलिङ्गम् ॥२॥

**सूत्रार्थ**—ब्राह्मणे=ब्राह्मण ग्रन्थों में, संज्ञाकर्मः=नाम के साथ कर्म और उनके अनुष्ठान आदि का वर्णन, सिद्धि लिंगम्=वेद के विषय की प्रमाणिकता की सिद्धि करने वाले चिह्न हैं।

**व्याख्या**—ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मानुष्ठान करने के विधान और संज्ञा अर्थात् उन कर्मो के नाम आदि का स्पष्ट वर्णन है जिससे वेद का विषय प्रामाणिक होना सिद्ध होता है। उन कर्मों के विधि पूर्वक लिए जाने पर उनका फल भी ग्रन्थों में वर्णन किये अनुसार ही होता है। इसमें भी यही सिद्ध होता है कि वेदों में ज्ञान भरा पड़ा है वह यथार्थ है। उसकी शिक्षा पर चलने अर्थात् वैसा आचरण करने से काम्य कर्म की प्राप्ति होती है।ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदानुकूल कर्मों के नियम, वेदों को प्रमाणित करते हैं, क्योंकि, उन ग्रन्थों में परोक्त तत्व-ज्ञान की चर्चा है और उस ज्ञान के प्रत्यक्ष न कहने से उसे वेदों को प्रकाश में लाने वाला लक्षण ही मानना होगा। साथ ही उन ग्रन्थों में अधिकतर वेदों का व्याख्यान हुआ है और कर्म काण्ड तथा विनियोग आदि भी कहे गये हैं। इससे ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों का लक्षण रूप माना गया हूँ।

बुद्धिपूर्वोददातिः ॥३॥

**सूत्रार्थ**—बुद्धि पूर्वः=बुद्धि पूर्वक, ददाति=दान देने की बात कही गई है।

**व्याख्या**—ब्राह्मण ग्रन्थों में दान करने जो बहुत जगह कहा गया है। वह दान की शिक्षा भी बुद्धिपूर्वक ही वर्णन की गई है। जैसे, पृथिवी में बीज बोया जाता है, वैसे ही दान दिया जाता हैं। पृथिवी में बीज बोने पर ही खेती उत्पन्न होती है बीज न बोने पर नहीं होती।

जिस समय बीज बोया जाता है उस समय न कोई अंकुर फू-ता है न कोई फल उत्पन्न होता है। बीज बोने वाला किसान बीज बोकर अपने घर चला जाता है और बाद में उसे अनाज से लहलहाते हुए खेत मिलते हैं। उसी प्रकार दान का फल तुरन्त नहीं होता, वह तो आगे चलकर मिलता है न ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रत्यक्ष फल वाले कर्म का निषेध किया गया है, क्योंकि प्रत्यक्ष फल विषय-भोग रूप दु:ख वाले ही होते हैं उससे सुख नहीं मिलता और परोक्ष फल वाले कर्म भविष्य अथवा परलोक को सुधारने वाले होने से विद्वानों को गृहण करने योग्य हैं।

तथा प्रतिग्रहः ॥४॥

सूत्रार्थ—तथा उसी प्रकार, प्रतिग्रहः=दान लेना भी बुद्धिपूर्वक ही कहा है।

व्याख्या—जैसे दान देना बुद्धि के अनुकूल कहा है वैसे ही दान लेना भी बुद्धि के अनुकूल ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कौन सा दान लेने योग्य है कौन-सा नहीं है, इस पर भी प्रकाश डाला गया है। क्योंकि अच्छे दान लेने का फल श्रेष्ठ और बुरा धन लेने में बुरे फल की प्राप्ति होती है। जैसे दान देने में पात्र, अपात्र का विचार किया जाता है वैसे ही दान लेने में पात्र का विचार अथवा प्राप्त होने वाला धन कैसा है ? फलीभूत होगा या नहीं होगा आदि बातों का विचार बुद्धि पूर्वक कर देने पर ही दान लेना चाहिए। अनेक बार बुरे धन की प्राप्ति पर दान लेने वाले को संकट में पड़ना होता है और कभी आत्म सम्मान भी नष्ट हो जाता है।

आत्मान्तरगुणनाभामान्तरेऽकारणत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ—आत्मन्तरगुणनम्=अन्य आत्मा के गुण, आत्मान्तरे=अन्य आत्मा में, अकारणत्वात्=कारण न होने से एक का फल दूसरे को नहीं मिलता।

व्याख्या—दान देने वाले और दान लेने वाले को एक-सा फल नहीं मिलता अथवा एक के लिए दान किये हुए कर्म का फल दूसरे को प्राप्त नहीं होता क्योंकि, अपने किये हुए कर्म का फल ही अपने को मिलता है। एक आत्मा के गुण अथवा कार्य पाप-पुण्य आदि का फल दूसरी आत्मा नहीं भोग सकती। पाप करने वाला और तथा भोक्ता कोई और होने से बुद्धिजीव के स्थान पर मुक्त जीवात्मा भी बन्धन में पड़ सकती है। अथवा पुण्य करने वाले के पुण्य का फल पापी को मिलकर वह बन्धन से छूट सकता है, इससे परमात्मा के सब नियम भङ्ग हो जायेंगे और पाप-पुण्य में कोई अच्छाई या बुराई न रहेगी। इसलिए यही मानना ठीक है कि दूसरे के लिए कर्म अपने को नहीं मिल सकते और जो मोक्ष की कामना वाले पुरुष हैं, इन्हें दूसरों के कर्म के भरोसे न रह कर स्वयं ही मोक्ष प्राप्ति का यत्न करना चाहिए। मनुष्य जो कर्म करता है उससे संस्कार और भोग की उत्पत्ति होती है। कर्म के अनुसार उत्पन्न संस्कार ही भोग के समय सुख या सुख की अनुभूति करता है। इससे सिद्ध होता है कि एक के कर्म का फल दूसरा व्यक्ति कदापि नहीं भोग सकता।

तद्दुष्टभोजने न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ—तत्=वह फल; दुष्ट भोजने=दूषित अन्न का भोजन करने में, न=नहीं विद्यते=होता।

व्याख्या—अच्छा फल अच्छे भोजन के दान से मिलेगा। खराब अन्न दान करने पर अच्छा फल नहीं मिलता। इसी प्रकार अच्छे आचरण वाले को दान देने से श्रेष्ठ फल मिलेगा और बुरे आचरण वाले को दान देने पर खराब फल मिलेगा। यदि ऊसर भूमि में बीज बोया जाय तो अन्न नहीं हो सकता। इसलिए बुद्धिपूर्वक अर्थात् अच्छी तरह विचार करके दान देने का उपदेश दिया गया है, जो लोग पात्र कुपात्र का विचार किये बिना, चाहे जिसे दान दे देते हैं। उसका

दान निष्फल होता है। इसलिए यज्ञ और तर्पण आदि में पापी और मूर्खों को भोजन कराने का निषेध किया गया है। जैसा बीज बोया जायेगा वैसा ही अन्न उत्पन्न होगा, इस न्याय से श्रेष्ठ भोजन, श्रेष्ठ आचरण वाले मनुष्य को ही करना चाहिए।

दुष्टं हिंसायाम् ॥७॥

सूत्रार्थ--दुष्टम्--दूषित भोजनसे, हिसायाम्=हिंसा की प्रवृत्ति होती है।

व्याख्या—किसी की श्रद्धा न हो और श्रद्धापूर्वक भोजन कराये तो उसमें भोजन करने वाले को कष्ट होने से हिंसा माननी होगी। अथवा किसी पशु आदि को मारकर भोजन करना प्रत्यक्ष हिंसा है या अन्याय में प्राप्त से अन्न दान करना या भोजन कराना भी हिंसा-भावना ही है। इस प्रकार का दान स्वीकार नहीं नहीं करना चाहिए। इस सूत्र का तात्पर्य दान लेने वाले के सम्बन्ध में भी यह निकलता है कि जो हिंसा करने वाला अथवा वेद-विरुद्ध कार्य करने वाला हो, उसे भोजन कराने या दान देने से दान का फल नहीं मिलता। इसलिए सब कर्म बुद्धिपूर्वक करने का उपदेश दिया गया।

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥८॥

सूत्रार्थ—तस्य=उस दूषित भोजन के, समभिव्याहारतः=खाने या खिलाने से, दोषः=दोष लगता है।

व्याख्या—हिंसा आदि पाप-कर्म के द्वारा प्राप्त दूषित भोजन को खाने अथवा खिलाने वाले दोनों को ही हिंसा का दोष लगता है। यह हो सकता है कि दाता या दान लेने बाले दोनों को ही अन्न के दूषित होने की जानकारी न हो और अनजाने ही किसी प्रकार से हिंसा होगई हो अथवा और किसी प्रकार से अन्य दूषित हुआ हो परन्तु अनजाने भाव से भी खाने खिलाने वाले दोनों ही पाप के भागी होते हैं। इस

सूत्र का अर्थ कुछ व्याख्याकारों ने इस प्रकार भी किया हैं कि हिंसा-कारी को भोजन कराना तो पाप है ही, साथ ही उसके साथ दूसरे प्रकार के व्यवहार भी नहीं रखने चाहिए। उसके साथ बैठकर भोजन करना, शयन या वार्तालाप भी वर्जित है। इसलिए, सब प्रकार के व्य-वहार में बुद्धिपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। बिना विचारे और बिना आचरण की जांच किये, किसी से, किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाना उचित नहीं है। ऐसा करने से संसर्ग-दोष भी उपस्थित होता है। दूसरे के अवगुण अपने में भी सम्भावना रहती है।

तददुष्टे न विद्यते ॥९॥

सूत्रार्थ--तत्=वह दोष, अदुष्टे=दोष रहित भोजन में, न=नहीं, विद्यते=होता।

व्याख्या--जो भोजन निर्दोष हैं, उसमें पाप-दोष नहीं होता, उसके खाने और खिलाने वाले, दोनों ही फलीभूत होते हैं। अथवा जो लोग दुष्ट नहीं हैं पाप कर्म नहीं करते, उनके साथ व्यवहार या सम्पर्क रखने में कभी कोई हानि नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि अच्छी संगति में सदा सुख ही सुख है और बुरी संगति सदा दुःखदायी होती है। इसीलिए किसी विद्वान् संत ने कहा है। "संगति बैठे साधु की हरे और की व्याधि।" अच्छी संगति के प्रभाव से मनुष्य स्वयं तो सुखी रहता ही है, दूसरों को भी सुखी बनाता है।

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

सूत्रार्थ—पुनः=फिर, विशिष्टे=विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों से ही प्रवृत्तिः=व्यवहार रखना चाहिए।

व्याख्या—जब-जब आवश्यकता हो, श्रेष्ठ पुरुषों से ही व्यवहार रखे। उन्हीं के आचरण पर चले और जो कुछ भी करे, उसी को उचित समझे। क्योंकि विशिष्ट पुरुष ज्ञानी और वेद आदि का अध्ययन करने

वाले होने से सदाचारी तथा आत्मदृष्ट होते हैं। उनके कार्य हिंसात्मक नहीं हो सकते। वे जो कार्य करते हैं उनमें जन कल्याण की भावना होती है। इसलिये, ऐसे व्यक्ति के सत्सङ्ग से लाभ उठाने का उपदेश इस सूत्र में हैं यदि हमें किसी वस्तु की आवश्यकता है तो वह वस्तु किसी दुष्ट पुरुष के पास है। उसी से मिल सकती है, तो उस वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा ही त्याग देनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि दुष्ट पुरुष से आवश्यक वस्तु भी न लें, चाहे उस वस्तु के बिना कैसा भी कार्य क्यों न रुका रहे।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११॥

सूत्रार्थ—वा=अथवा, समे=सामान्य में या, हीने=निर्धन में भी, प्रवृत्ति=फल की प्रवृत्ति निहित है।

व्याख्या—श्रेष्ठ पुरुष धनवान ही हो या उसका अधिक सम्मान हो, उसी की संङ्गति में बैठने की कोई बात नहीं है। सदाचारी, ज्ञानी आदि श्रेष्ठ व्यक्ति निर्धन हों सामान्य हो–जिनकी समाज में कोई विशेष प्रतिष्ठा न हो, तो भी उनकी सङ्गति करने में कोई दोष नहीं है। ऐसे व्यक्ति भी अपने श्रेष्ठ आचरण से अपने साथियों का हित-साधन करने वाले होते हैं। इसी प्रकार सामान्य भोजन या रूखा-रूखा भोजन भी यदि निर्दोष हो तो खाने खिलाने में कोई बुराई नहीं। यदि कोई अधिक श्रेष्ठ व्यक्ति दान के लिए न मिल सके तो सामान्त व्यक्ति को दान दिया जा सकता है, परन्तु उसमें किसी पाप दोष की प्रवृति नहीं होनी चाहिये।

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं
व्याख्यातम् ॥२॥

सूत्रार्थ—एतेन=इस प्रकार, हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः=हीन, समान, विशिष्ट तथा श्रेष्ठ धार्मिक, व्यक्तियों से ही परस्वादानम्=

दूसरे का धन-दान लेना, व्याख्यानम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे, विशिष्ट व्यक्ति, समान व्यक्ति अथवा हीन व्यक्ति को दान देना या उनसे व्यवहार रखना कहा गया है, वैसे ही दान लेने का भी नियम है। दूसरे का धन लेते समय दाता हीन अर्थात् नीची श्रेणी का है या समान अर्थात् बराबर का है अथवा अपने से विशिष्ट है और धार्मिक है, इसका ध्यान रखना चाहिए। परन्तु, पाप-कर्म करने वाला या अपराध कर्म में प्रवृत्त न हो क्योंकि दान का धन चोरी आदि का न हो। चोरी का हुआ तो पकड़ जाने पर दान देने वाला सङ्कट में पड़ सकता है। किसी की हिंसा करके लिया गया हो तो भी बन्धन हो सकता है। कुछ व्यक्ति इस सूत्र का अर्थ जबरदस्ती धन लेने के पक्ष में करते हैं और हीन सम विशिष्ट धार्मिकेभ्यः' का तात्पर्य चार वर्णों से बताते हैं। उनका मत है कि भोजन न हो तो चोरी करके भी ले सकता है। पहले शूद्र के यहाँ चोरी करे, फिर वैश्य के यहाँ, फिर क्षत्रिय के यहाँ और फिर भी आवश्यकता हो तो धर्मवान् ब्राह्मण के यहाँ चोरी कर सकता है। परन्तु हमारे मत में ऐसा करना ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि चोरी करके धन लेना भी हिंसा आदि दोषों के अन्तर्गत होने से दूषित का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, जिसका निषेध पूर्व सूत्रों में स्वयं सूत्रकार कर चुके हैं।

तथा विरुद्धानां त्यागाः ॥१३॥

सूत्रार्थ—तथा=इसी प्रकार, विरुद्धानाम=वेद विरुद्ध आचरण वालों का भी, त्याग=करना चाहिए।

व्याख्या—धर्म-विरुद्ध कार्य करने वाले पापियों का दान-स्वीकार करना जो निषिद्ध कहा जा चुका है स्वयं ही उन व्यक्तियों से भी दान लेने का निषेध किया गया है, जो वेद शास्त्रों के विरुद्ध आचरण

करते हैं, जैसे नास्तिक आदि। जो व्यक्ति ईश्वर का नहीं मानते या दान में विश्वास नहीं रखते, परन्तु, दान लेने वाले की निर्धनता आदि से प्रेरित होकर दान करते हैं, अथवा नाम कमाने के लिए दान देते हैं, या किसी अन्य भावना के वशीभूत होकर धन या अन्न देना चाहते हैं, उनका दान कभी स्वीकार न करना चाहिए। क्योंकि उनका दान अहङ्कार और मिथ्याभिमान के कारण दूषित होता है और दूषित धन के ग्रहण करने का पूर्व सूत्रों में स्पष्ट निषेध किया जा चुका है।

हीने परे त्यागः ॥१४॥

सूत्रार्थ–परे=दाता के, हीने=कर्म आदि में हीन होने पर, उसका त्याग करना ही है।

व्याख्या–यदि दाता आस्तिक तो है, दान देने में उसकी श्रद्धा है पर, कर्म आदि से हीन है अर्थात् जीविका के लिए अच्छे कर्म नहीं करता, झूँठ बोलकर जीविकोपार्जन करता है या अभ्यास, अधर्म से धन कमाता है, ऐसे दाता का दान भी त्याग देना चाहिए। कुछ सूत्र कारों ने सइ सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि हीन कर्म वाले या अधर्मी मनुष्य का सर्वथा त्याग करे। यदि उसे भूख लगी हो तो उसे भोजन भी न दे, क्योंकि लोक-विरुद्ध कार्य करने वाले का जीवित रहना भी आवश्यक नहीं। परन्तु ऐसा कार्य करना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि, अधर्मी भी यदि भूखा है तो उसे भोजन देकर प्राण-रक्षा करनी चाहिए और उचित शिक्षा देकर सही मार्ग पर लाना चाहिए। किसी को असहाय अवस्था में मरने देना भी हिंसा ही है। इसलिए, यही मानना ठीक है कि 'हीन कर्म वाले दाता का दान स्वीकार न करे।'

समे आत्मा त्यागः परित्यागी वा ॥१५॥

सूत्रार्थ—समे=समानता में, आत्म-त्यागः=अपना त्याग करे, वा=या, परित्यागी = दूसरे का त्याग करने वाला हो जाय।

व्याख्या—यदि दाता और दान देने वाले दोनों के ही गुण, कर्म, आदि समान हैं तो चाहे अपने पास का अन्न या धन उसे देने या उससे स्वयं ले लें इसमें समान फल ही होता है। तात्पर्य यह है कि दाता और दान लेने वाले एक से कर्म वाले वा ज्ञान, धर्म वर्ण आदि में समान हैं तो आवश्यकता पड़ने पर चाहे जो, चाहे जिसकी वस्तु आपस में दे दें एवं ले लें, इसमें दान देना या दान लेना नहीं कहा जा सकता। यह तो परस्पर का व्यवहार मात्र होगा। इसमें दोनों का समान उपकार होने से लेने देने का कोई पुण्य या दोष उपस्थित नहीं होगा।

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥१६॥

सूत्रार्थ—विशिष्टे=यदि विशिष्ट है तो, आत्मत्यागः=अपना भी त्याग करें।

व्याख्या—यदि दाता अपने से श्रेष्ठ गुण-कर्म वाला है तो उसका भी धन न ले क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों को तो देना ही अच्छा है। इस सूत्र का अर्थ यह भी हो सकता है कि श्रेष्ठ पुरुप संकट में है तो उसकी रक्षा करनी चाहिये, चाहे उसकी रक्षा करने में अपने प्राण ही क्यों न उत्सर्ग करने पड़े। इस प्रकार जो कार्य करे बुद्धि पूर्वक ही करना चाहिए।

॥ षष्ठोऽध्यायः प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

# षष्ठोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

दृष्टादृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

सूत्रार्थ— दृष्ट अदृष्ट प्रयोजननाम् = दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों में, दृष्टाभावे=दृष्ट का अभाव वाला

प्रयोजनम्=कर्म ही, अभ्युदयाय=सुख का हेतु होता है।

व्याख्या—दृष्ट कर्म वह है जिसका प्रत्यक्ष फल होता हो, जैसे खेती—बीज डालने पर कुछ दिन बाद ही अनाज उत्पन्न हो जाता है। और अदृष्ट कर्म वह है, जिसका फल प्रत्यक्ष रूप से नहीं मिलता। परन्तु वह कर्म ही, जिसमें प्रत्यक्ष फल का अभाव है, सुख देने वाला हैं। क्योंकि, उस कर्म में परलोक का सुख निहित हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार के हैं—एक दृष्ट, जिसका फल इस लोक में तथा शीघ्र मिल जाता है और दूसरा अदृष्ट, जिसका फल इस लोक में नहीं, परलोक में मिलता है। यह अदृष्ट कर्म ही निष्काम कर्म कहा गया है। इसमें किसी फल की इच्छा नहीं होती, केवल तत्वज्ञान की प्रवृत्ति होती है और इसी कर्म के द्वारा मनुष्य को इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख मिलते हैं। इहलौकिक, इस प्रकार का साधक विषय-भोगों को त्याग कर आत्म-चिन्तन में लग जाता है, उसे सांसारिक दुःखों का आभास नहीं होता, इसी को दुःख की निवृत्ति अर्थात् सुख कहा गया है और पारलौकिक सुख इस प्रकार मिलता है कि मनुष्य को जब आत्म-ज्ञान हो जाता है, तब उसके प्रारब्ध कर्मों का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अथवा जिनका कर्म इतना उत्कृष्ट नहीं होता, जिससे कि मोक्ष प्राप्त हो सकता हो, वे साधक अपने अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म से श्रेष्ठ प्रारब्ध वाले होकर पुनर्जन्म में सुख भोगते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष फल देने वाले कर्मों से परलोक में सुख देने वाले कर्म अधिक श्रेष्ठ हैं। अब उन कर्मों को कहते हैं जो अदृष्ट प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं।

**अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदान**
**प्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ।२।**

सूत्रार्थ—अभिषेचनोपवास=मन्त्र द्वारा जल के छींटे और

उपवास, ब्रह्मचर्य=इन्द्रिय संयम, गुरुकुलवास=गुरु के आश्रम में रहना, वानप्रस्थ=वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना, यज्ञदान=यज्ञ और दान करना, प्रोक्षण=जल से शूद्धि करना, दिङ् नक्षत्र=दिशा और नक्षत्रका ज्ञान रखना, मन्त्रकाल नियम=मंत्र और काल आदि नियमों का ध्यान रखना, अदृष्टाय=अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म के लिए, च= और दृष्ट फल वाले कर्म के लिए भी आवश्यक हैं।

व्याख्या—स्नान आदि से निवृत्त होकर दिशा का विचार करते हुए अर्थात् पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठे और कर्म प्रारम्भ करने में शुभ नक्षत्र तथा समय का भी ध्यान रखे। फिर मन्त्रोच्चारण करते हुए सिर पर जल के छींटों से अभिषेचन करना चाहिए। कर्मानुष्ठान के समय, ब्रह्मचर्य पालन करे और गुरु के आश्रम में या किसी पवित्र स्थान में रहे। गुरुकुल-वास इसलिए कहा गया है कि कर्म में कोई विघ्न उपस्थित हो तो गुरु का परामर्श तुरन्त प्राप्त होने से विघ्न दूर हो सकता है। अथवा वानप्रस्थ आश्रम में दीक्षित होकर वहाँ के नियमों का पालन करे। अनुष्ठान में मन्त्र को भी बुद्धि पूर्वक छाँटे क्योंकि सरल और शीघ्र फलकारी मन्त्र ही सुसाध्य होता है। विधान के अनुसार उपवास, यज्ञ, दान आदि भी करें। इस प्रकार, विधिपूर्वक कर्म करने से अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्म सिद्ध होते हैं और दृष्ट प्रयोजन वाले कर्म भी विधिपूर्वक किये जाने से ही फल देते हैं। इसलिए विधान का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

चातुराश्रम्यमुपधाः अनुपधाश्च ।३।

सूत्रार्थ—चातुराश्रम्यम्=चारों आश्रम और उनके नियम, उपधः =उपनियम, अनुपधाः अनुपनियम, च=और सभी मान्यताओं का पालन करना उचित है।

व्याख्या—आश्रम चार हैं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमों के पृथक्-पृथक् नियम हैं। जब, जिस आश्रम में हों तब, उस आश्रम के नियम, उपनियम, विधि-विधान आदि का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। अनुपधा का अर्थ श्रद्धा भी है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने आश्रम के आचार-विचारों में श्रद्धा भी रखनी चाहिए। क्योंकि, श्रद्धा होगी तभी वह कार्य मन से होगा, अन्यथा मन के बिना किया हुआ कार्य कभी फल नहीं देता। इसलिए, जो कर्म किया जाय, उसे बुद्धिपूर्वक करे, यही इस सूत्र का आशय है।

भावदोष उपधाऽदोषोनुपधा ।४।

सूत्रार्थ—भावदोषः=भाव से दोष, उपधा=उपधा, और अदोषः =भाव में दोष न होना, अनुपधा=अनुपधा कहे गये हैं।

व्याख्या—भाव में दोष अर्थात् राग द्वेष, प्रमाद, अश्रद्धा, अहंकार, अभिमान, परनिन्दा आदि जो मानसिक दोष है, उन्हें 'उपधा' कहते हैं और उपधा के विरुद्ध जो लक्षण हैं, वे अनुपधा के समझने चाहिऐ अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, सत्सङ्ग श्रद्धा, संयम, गम्भीरता आदि गुण अनुपधा के कहे गये हैं। यह दोनों प्रकार के गुण या कर्म अज्ञान या ज्ञान के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च
तच्छुचिः ।५।

सूत्रार्थ—यत्=जो वस्तु, इष्ट=इच्छित, रूपरसगन्ध स्पर्शम्=रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाली है, च=और, प्रोक्षितम्=मन्त्र जल से शुद्ध और, अभ्युक्षितम्=बिना मन्त्र के शोधित है, तत्=वह, शुचिः =शुद्ध है।

व्याख्या—जो वस्तु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाली दिखाई देती

हैं, उन्हे मन्त्र के जल से शुद्ध किया जा सकता है। अनेक वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें शुद्ध करने के लिये मन्त्र की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् वे स्वयं ही पवित्र हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का उपयोग बुद्धिपूर्वक ही करना चाहिए। जिसके शुद्ध करने की आवश्यकता न हो उसे बिना मन्त्र के ही कार्य में ले लें या अग्नि पर तपाने आदि से शुद्ध हो तो वैसे करे।

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ।६।

सूत्रार्थ–शुचिप्रतिषेधिः=जो वस्तु शुद्ध न हो उसे, अशुचीति= अपवित्र कहते हैं।

व्याख्या—जो वस्तु अशुद्ध है वही अपवित्र है। जिसमें शुद्ध वस्तु से विपरीत हों, वह अशुद्ध वस्तु है।

अर्थान्तरञ्च ।७।

सूत्रार्थ—अर्थान्तरम्=जिस वस्तु में 'शुद्ध' शब्द का व्यवहार न हो सके, वह, च=भी अशुद्ध ही हुई

व्याख्या—जिस वस्तु को शुद्ध न कह सकें, वह अशुद्ध ही हुई। जैसे धन कमाने में कोई दुष्टता न हो तो भी किसी प्रकार के अव्यावहारिक भाव आ जाने से वह धन दूषित माना जायगा। कहीं जल दूषित है और वह अन्न में मिलकर उसे दूषित कर रहा है, तो भी उसे दूषित ही मानना होगा। क्योंकि, उससे हानि की सम्भावना है।

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमा-
भावात ।८।

सूत्रार्थ– नियम—अभावात्=नियम के अभाव से, अयतस्य=
इन्द्रिय ... से, अभ्युदयः=कल्याण, विद्यते=नहीं होता।

व्याख्या—जो व्यक्ति अहिंसा आदि के नियमों का पालन नहीं करते। उनका शुद्ध भोजन भी कल्याणकारी नहीं। 'नियमाभावात्' पद से तात्पर्य वेद-विदित आचार से है। इसलिए वेद उपदेशों के प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्तियों के यहाँ भोजन करने का निषेध समझना चाहिए। वेद-विरुद्ध आचरण में झूँठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार आदि अपकर्म तथा पर-धन अपहरण करना आदि सभी सम्मिलित हैं। ऐसे व्यक्ति के यहाँ शुद्ध भोजन भी त्यागने योग्य है। इसी प्रकार वेद-विरुद्ध आचरण करने वाले को भोजन कराना भी निषिद्ध है। इस प्रकार पाप-कर्म करने वालों के यहाँ भोजन करना या ऐसे व्यक्तियों को भोजन कराना अनुचित मानना चाहिए।

विद्यतेवार्थान्तरत्वाद्यस्थ ।९।

सूत्रार्थ—वा=अथवा, यमस्य=यम का, अर्थान्तरत्वात्=अन्य अर्थ होने से, विद्यते=शुद्ध भोजन का महत्व है।

व्याख्या—हिंसा आदि के द्वारा प्राप्त भोजन, चाहे वह पवित्र व्यक्ति के द्वारा ही दिया गया हो तो भी नियम में अन्तर होने से अर्थात् पवित्र भोजन जिस प्रकार प्राप्त होता है, उस प्रकार प्राप्त न होने से अपवित्र ही माना जायगा। इस प्रकार अपवित्र भोजन का निषेध होने से शुद्ध भोजन का ही महत्व माना है।

असति चाभावात् ।१०।

सूत्रार्थ—च=और, अभावात्=दाता नियम पालक हो, परन्तु उसमें श्रद्धादि का अभाव हो, तो भी असति=कल्याणकारी नहीं होता।

व्याख्या—खाने वाला या खिलाने वाला वेद-विहित नियमों का पालन तो करता है, परन्तु उसके भोजन करने-कराने में श्रद्धा न हो, तो भी वह भोजन कल्याण करने वाला नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि

अश्रद्धा से दिया हुआ दान फलदायक नहीं होता, इसी प्रकार श्रद्धा न हो तो दान लेना भी नहीं चाहिए। मन में तो यह है कि यह दान हमारे लिए कल्याणकारी न होगा, फिर भी दान स्वीकार कर लिया जाय तो अपनी इच्छा के विरुद्ध ग्रहण किया जाने से उस प्रतिग्रह को अश्रद्धायुक्त ही समझना चाहिए। यही बात दाता के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

सुखाद्रागः ।११।

सूत्रार्थ—सुखात्=सुख से, रागः=विषयों में आसक्ति होती है।

व्याख्या—जिस कार्य में सुख मिले, वह कार्य विषयों में आसक्त करने वाला होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि को सुखदायक माना गया है। क्योंकि, सुन्दर नारी पर मन मोहित हो जाता है, सुन्दर भवन, बाग-बगीची आदि को देख कर वहीं रहने की इच्छा होती। उत्तम स्वादिष्ट पेय पदार्थ या भोजन मिले तो उसे छोड़ने की इच्छा नहीं होती और सुगन्धित द्रव्यों की मादकता में भी जीव मतवाला हो जाता है। किसी लावण्यमयी नारी का स्पर्श प्राप्त होते ही मनुष्य आध्यात्मिक विषयों को भूल जाता है। इन सभी के द्वारा मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है और जैसे ही मन इन सबमें रमा कि फिर छुटकारा नहीं हो सकता। यही आसक्ति है, इसी के कारण द्वेष की भी उत्पत्ति हो जाती है। इनमें से जिस वस्तु का अपने पास अभाव हुआ वह दूसरे के पास दिखाई दे तो उससे द्वेष उत्पन्न होता हैं और द्वेष सब लड़ाई-झगड़ों का मूल है ही इसलिए, आत्म-कल्याण चाहने वाले पुरुषों को इन सबका त्याग करना ही उचित बताया गया है।

तन्मयत्वाच्च ।१२।

सूत्रार्थ—तन्मयत्वात्=तन्मय हो जाने से, च=भी राग आदि की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या—किसी इन्द्रियजन्य विषय में तल्लीन हो जाने से भी राग-द्वेष आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे किसी एक स्त्री की सुन्दरता पर दो मनुष्य आकर्षित हों तो वे परस्पर प्रतिद्वन्दी समझते हुए झगड़ सकते हैं। यही बात रस, गन्ध, स्पर्श के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। जिससे पास वह सुख साधन मौजूद हैं, उसके सुख को देखकर जिसके पास यह साधन नहीं हैं, वे द्वेष करने लगते हैं और कभी भी इसका परिणाम भयङ्कर निकलता है। चोरी, डकैती, अपहरण, बलात्कार आदि का कारण भी विषयों में तन्मयता ही है। किसी स्त्री को देखकर उसमें तन्मय हो जाने पर ही अपहरण या बलात्कार की घटना घटित होगी। पर धन को देखकर, उसे प्राप्त करने की इच्छा का दृढ़ हो जाना भी तन्मयता ही है, उसके परणाम स्वरूप चोरी, डकैती आदि कुकर्म होते हैं और कभी-कभी तो हिंसा भी हो जाती है।

अदृष्टाच्च ।१३।

सूत्रार्थ—अदृष्टात्=अदृष्ट से, च=भी इन दोषों की उत्पत्ति हो जाती है।

व्याख्या—अदृष्ट पूर्व-जन्म के कर्म से उत्पन्न होने वाले संस्कार को कहते हैं। इन संस्कारों के द्वारा भी राग-द्वेष की उत्पत्ति होना सम्भव है। किसी पहिले जन्म में किसी व्यक्ति से द्वेष रहा हो तो इस जन्म में भी उससे द्वेष उत्पन्न हो सकता है और किसी से मित्रता रही हो तो उससे मित्रता हो सकती है। इस जन्म में अकारण ही परस्पर शत्रुता होते हुए प्रत्यक्ष देखते हैं, वह पूर्व जन्म के संस्कार से होता है। इसलिये, राग-द्वेष का अदृष्ट द्वारा उत्पन्न न होना भी स्वीकार किया गया है।

जातिविशेषाच्च ।१४।

सूत्रार्थ—जातिविशेषात्=जाति विशेष से, च=भी, राग-द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है।

व्याख्या—जाति विशेष या पदार्थ विशेष भी राग-द्वेष का कारण हो सकता है। जैसे, मनुष्य, अन्न, फल-फूल, दुग्ध आदि की इच्छा रखते हैं, परन्तु घास, खली, काँटेदार वस्तुओं को नहीं खाते वैसे ही पशुओं के लिए घास, खली आदि ही अधिक प्रिय हैं। बहुत-से पशु काँटों को या कड़वे नीम आदिको ही खाना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का सर्प, सिंह आदि से द्वेष होता है और वह भय के कारण उनसे बचने की चेष्टा करता है। सर्प और न्यौले का द्वेष तो प्रसिद्ध ही है। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि जाति विशेषिता से भी राग द्वेष की उत्पत्ति हो सकती है।

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ।१५।

सूत्रार्थ—इच्छा-द्वेष-पूर्विका=इच्छा अर्थात् राग द्वेष के द्वारा धर्म-अधर्म-प्रवृत्ति=धर्म या अधर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है।

व्याख्या—राग या द्वेष से धर्म या अधर्म कार्यों में प्रवृत्ति होती है। इच्छा के द्वारा मनुष्य यज्ञ, दान आदि शुभ कर्म करना है और द्वेष से कार्य और अधर्म कार्य के भी साधक हैं। किसी व्यक्ति को धर्म कार्य करते देखकर यह विचार उत्पन्न हो कि मैं भी इस कार्य को करूँ तो मेरा भी नाम होगा। यद्यपि उसमें धर्म-कार्य की प्रवृत्ति नहीं थी तो भी वह ईर्ष्या और नाम कमाने की इच्छा से धर्म-कार्य में प्रवृत्त होता है. इसीलिये इस धर्म में राग और द्वेष दोनों ही कारण रूप हैं, इसी प्रकार किसी स्त्री में एक व्यक्ति का प्रेम है और दूसरा उस पर अधिकार करले तो स्त्री में राग के कारण उस पर अधिकार करने वाले से द्वेष उत्पन्न होने से इनमें भी राग द्वेष दोनों ही अधर्म के कारण बनते हैं।

तत्संयोगो विभागः ।१६।

सूत्रार्थ—तत्=उस धर्म और अधर्म की प्रवृत्त से, संयोगः=जन्म और, विभागः=मरण होता है।

व्याख्या—धर्म-अधर्म पर ही जन्म-मरण निर्भर है। धर्म और अधर्म दोनों का चक्र चलते रहने के कारण करने-जीने का क्रम लगा रहता है। यदि धर्म-अधर्म कर्म शेष न रहे तो उनके फरस्वरूप भोग की आवश्यकता न रहे और जब भोग न ीं रहा तो जन्म-मरण भी समाप्त हो गया। उस धर्म-अधर्म का कारण राग-द्वेष है, इसलिये, रागद्वेष से ही आवागमन का होना समझना चाहिये।

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ।१७।

सूत्रार्थ—आत्म-कर्मसु=आत्म-ज्ञान प्राप्ति वाले कर्म से, मोक्षः=मुक्त होना, व्याख्यातः=कहा गया है।

व्याख्या—जब आत्म-ज्ञान हो जाता है, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये भी कर्म की आयश्यकता होती है और कर्म है सांसारिक विषयों का त्याग करना और आत्म-चिंतन में तल्लीन होना। जब तक विषय-भोगों का त्याग नहीं किया जायगा, तब तक आत्म-ज्ञान का साधक कर्म बन हीं नहीं सकता। जैसे प्रकाश से अँधेरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही मन को वश में करने से विषयों का नाश हो जाता है। इसलिए, मोक्ष की कामना वाले पुरुषों को विषयों के त्याग का प्रयत्न करना आवश्यक है।

॥ षष्ठोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ॥

# सप्तमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

उक्ता गुणाः ।१।

सूत्रार्थ—गुणाः=गुण, उक्ता-=कहे जा चुके हैं ।

व्याख्या—प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक में गुणों की व्याख्या की गई थी, इसमें रूप, रस आदि चौबीस गुणों के नाम बताये गये थे, अब उन गुणो की परीक्षा करते हैं । इस आह्निक में नित्य, अनित्य पाकज, संख्या और परिमाण इन पाँच प्रकार के गुणों की परीक्षा की जायगी ।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ।२।

सूत्रार्थ—पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः=पृथिवी आदि के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वह गुण, द्रव्य-अनित्यत्वाद्=द्रव्य के नित्य न होने से, अनित्यः=अनित्य, च=ही हैं ।

व्याख्या—पृथिवी जल, अग्नि, वायु इन चार पदार्थों के रूप, रस गन्ध, स्पर्श यह गुण कहे गये हैं, यह नित्य नहीं अनित्य हैं । क्योंकि यह गुण नाशवान् पदार्थों में ही पाये जाते हैं और अपने आश्रय के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाते हैं । जैसे वस्त्र का रूप के नष्ट होते ही समाप्त हो जाता है । इससे सिद्ध हुआ कि गुणों के आश्रयभूत पदार्थ ही नष्ट हो जाते हैं तो गुण भी नष्ट ही हो जायेंगे । इसलिये गुणों की अनित्यता कही है ।

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ।३।

सूत्रार्थ—एतेन=उन कहे हुए, नित्येषु=नित्य पदार्थों में, नित्यत्वम्=नित्यता का होना, उक्तम्=कहा गया हैं।

व्याख्या—जिन द्रव्यों का नित्य होना कहा है, वे द्रव्य नित्य हैं। इसका यह तात्पर्य है कि जिस गुण का आश्रय अनित्य है, वह गुण भी अनित्य हैं, जिसका आश्रय नित्य है, वह स्वयं भी नित्य हैं। इस प्रकार नित्य, अनित्य की परीक्षा की गई।

अप्सु तेजसि वायौ चनित्याः द्रव्यनित्यत्वात् ।४।

सूत्रार्थ—द्रव्यनित्यत्वात्=द्रव्य के नित्य होने से, अप्सुतेजसिवायौ=जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं में रहने वाले गुण, च=भी नित्याः=नित्य ही हैं।

व्याख्या—जल के परमाणुओं में रूप, रस, स्पर्श के स्वाभाविक होने से उनमें नित्यता भी हो सकती है। अग्नि के परमाणुओं में रूप और स्पर्श नित्य हो सकते हैं और वायु के परमाणुओं में स्पर्श गुण को नित्य माना जा सकता है। क्योंकि द्रव्य नित्य होंगे, तभी उनके गुण नित्य हो सकते हैं। रूप आदि गुण में, एक दूसरे गुण की प्रतीति न होने से, उनमें किसी प्रकार के विकार का होना भी नहीं पाया जाता।

अनित्येष्वनित्याः द्रव्यानित्यत्वात् ।५।

सूत्रार्थ—द्रव्यानित्यत्वात्=द्रव्य के अनित्य होने से, अनित्येषु=अनित्य द्रव्यों में, अनित्याः=गुण भी अनित्य होते हैं।

व्याख्या—जो कार्य रूप अनित्य द्रव्य हैं, उनके गुण भी अनित्य हैं। जल आदि पदार्थ नाशवान् हैं इसलिये उनके गुण भी नाशवान् ही समझने चाहिए। क्योंकि, जिसका आश्रय ही नष्ट होने वाला है तो वह आश्रित अविनाशी कैसे हो सकता है।

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ।६।

**सूत्रार्थ**—पृथिव्याम्=पृथिवी में, पाकजाः=पकने के **गुण** उत्पन्न होते हैं, वे, **कारण गुणपूर्वकाः**=अपने-अपने कारण से ही प्रकट होते हैं।

व्याख्या—पृथिवी में दूसरे द्रव्यों के साथ पक कर जो रूप, रस आदि **गुण** प्रकट होते हैं, उनकी उत्पत्ति अपने-अपने कारणों से ही होती है। अर्थात् जैसे **गुण** कारण के होंगे वैसे ही गुण कार्य के होंगे। जैसे, लाल रङ्ग के धागे से बुनने पर लाल रङ्ग का ही वस्त्र होगा, रेशम में बुने गये वस्त्र को रेशमी कहेंगे और उसका रूप, स्पर्श आदि भी रेशम जैसा ही होगा। कागज से फूल बनाने पर भी वह कागज जैसा ही होगा, उसमें असली पुष्प का-सा रूप या गन्ध आदि नहीं हो सकता। यदि कहें कि जो नेत्र से ग्रहण किया जाय वही रस है और जो जीभ से ग्रहण किया जाय वही रस है तो नेत्र के नष्ट हो जाने पर रूप का दिखाई देना बन्द हो जायगा, परन्तु रूप नष्ट नहीं होगा। क्योंकि, कार्य के विद्यमान रहने तक रूप भी विद्यमान रहेगा। नेत्र के नष्ट होने से रूप का नष्ट होना या जिह्वा के नष्ट होने से रस का नष्ट होना नहीं माना जा सकता। धर्म के साथ धर्मी और धर्मी के साथ धर्म रहेगा, धर्म से धर्मी अलग नहीं हो सकता।

एकद्रव्यत्वात् ।७।

**सूत्रार्थ**—एक द्रव्यत्वात्=एक द्रव्यता होने से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—प्रत्येक गुण का आश्रय रूप द्रव्य एक ही होता है। परन्तु, स्वाभाविक **गुणों** के अलावा नैमित्तिक गुण भी होते हैं, वे भी द्रव्यों में रहते हैं। जैसे पृथिवी का स्वाभाविक गुण गन्ध है, रूप अग्नि का, रस जल का और स्पर्श वायुका **गुण** माना जाता है साथ ही सूक्ष्म

वस्तु के गुण में तो स्थूल आ जाते हैं, स्थूल वस्तु के गुण सूक्ष्म में नहीं आते। इस न्याय से पृथिवी में चारों गुणों का आरोप कर लिया जाता है। यथार्थ में उसका गुण एकमात्र गन्ध ही है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी समझना चाहिए।

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ।८।

सूत्रार्थ---अणोः=अणु, महतः=महत की, उपलब्धि=प्राप्ति, च=और, अनुपलब्धि=अप्राप्ति, नित्ये=नित्य, व्याख्याते=कही गयी है।

व्याख्या--इस सूत्र में अणु और महत् आदि परमाणु को अविनाशी कहा है। जैसे किसी बर्तन को देखकर अनुमान करें कि यह बर्तन मोटा है या पतला है, छोटा है या बड़ा है। इसी प्रकार संसार की सभी वस्तुओं का अनुमान किया जाता है। यहाँ तक कि परमाणु का परिमाण भी इसी प्रकार से जाना जाता है। द्रव्य में रूप, रस आदि गुणों के समान ही परिमाण भी होता है। क्योंकि परिमाण अर्थात् माप से द्रव्य की पहिचान भी होती है। परमाणु सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते, जब वे द्रव्य रूप में बदल कर 'महत्' हो जाते हैं, तभी दिखाई देते हैं। इसलिए, सूत्रकार ने अणु की अनुपलब्धि अर्थात् परिमाण रूप द्रव्य का प्रत्यक्ष होना माना है। इसी प्रकार दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु में छोटा होना, मध्यम या बड़ा होना पाया जाता है, क्योंकि जो वस्तु दिखाई देती है उनका परिमाण अर्थात् आकार-प्रकार अवश्य होगा। परिमाण के चार भेद हैं-छोटा, बड़ा, सूक्ष्म और स्थूल। सबसे छोटा या सबसे बड़ा होना नित्य पदार्थों में भी होता है, परन्तु मध्यम परिमाण वाले और अवयव-युक्त-द्रव्य नित्य नहीं माने जाते।

कारणबहुत्वाच्च ।९।

सूत्रार्थ---कारण-बहुत्वात्=कारणों के अनेक होने से, च=भी महत्व होता है।

व्याख्या— कारण की अनेकता को भी महत् मानना होगा और जब कारण को महत् मान लिया तब उनके संयोग से महत् गुण की उत्पत्ति भी माननी होगी। एक परमाणु में अणु की लघुता होते हुये भी परमाणुओं के समूह में अधिक संख्या होने से उनको महत् कहा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि महत् एक परमाणु के लिए नहीं कह सकते वल्कि अनेक परमाणुओं के इकट्ठे हो जाने से 'महत्' गुण की उत्पत्ति होती हैं। क्योंकि, एक का गुण छोटा है, दो के मिलने पर गुण भी कुछ बड़ा हुआ, चार के मिलने पर और भी बड़ा हुआ। इस प्रकार जितने परमाणु मिलते जायेंगे, उतना ही बड़ा गुण होता जायगा। जैसे एक खिलौना बनाना है तो उसके लिये थोड़ी मिट्टी लें तो खिलौने का हाथ या पाँव अथवा मुख ही बनकर रह जायगा, अधिक मिट्टी लेने पर और भी अङ्ग बनेंगे, और भी मिट्टी लेने पर पूरा खिलौना बन जायगा, अथवा यों कहना चाहिए कि थोड़ी मिट्टी लेंगे तो छोटा खिलौना बनेगा, अधिक मिट्टी लेंगे तो बड़ा खिलौना बनेगा। इससे सिद्ध हुआ कि मिट्टी के परमाणुओं के मेल से खिलौने का निर्माण हुआ अर्थात् खिलौना मिट्टी के परमाणुओं के संयोग से बन सका। इसलिये इस सूत्र में कहा गया है कि अनेक कारणों के संयोग से मध्यम परिमाण वाली वस्तु में महत् की उत्पत्ति होती है। यह पहिले ही बता चुके हैं कि मध्यम परिमाण वाली वस्तुयें अवयव वाली होने से अनित्य भी हैं। क्योंकि वे अनेक परमाणुओं के योग से बनती हैं।

अतो विपरीतमाणु ।१०।

सूत्रार्थ—ऊपर जो महत् परिणाम बताया गया है, उसके विपरीत होने से अणु कहना चाहिए। जो पदार्थ दिखाई देता है, वह महत् और जो दिखाई न दे वह अणु, ऐसी मान्यता है अर्थात् बड़ी या स्थूल वस्तु दिखाई देती है, क्योंकि वह अनेक परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होती

है और छोटी अर्थात् सूक्ष्म वस्तु दिखाई नहीं देती, क्योंकि, वह अणु-रूप होती हैं। अणु एक है, उसमें कारण संयोग नहीं है और महत् अनेक कारण संयोग है अर्थात् बहुत-से कारणों से बनता है। जितने कम परमाणु होंगे उतना ही कम आकार होता और जितने अधिक परमाणु मिलेंगे, उतना आकार बड़ा होगा। इससे सिद्ध होता है कि सब परमाणुओं के मिलने से सबसे बड़ा कहा जाता है और एक परमाणु का रहना अथवा परमाणुओं का संयोग न होना ही सबसे छोटा माना गया है।

अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ।११।

**सूत्रार्थ**—अणु=छोटा महत्=बड़ा, इति=यह, तस्मिन्—उस वस्तु में, विशेषभावात्—विशेष होने से, और विशेष-अभावात्=विशेष न होने से, च=ही होता है।

**व्याख्या**—छोटा और बड़ा होना वस्तु के आकार-प्रकार पर निर्भर है, जैसे धोती से अङ्गोछा छोटा है, क्यों छोटा होता है ? इस-लिये कि उसमें बड़े-पन का अभाव है अर्थात् अँगोछा अधिक से अधिक दो-ढाई गज का होता है और धोती चार-पाँच गज की होने से अङ्गोछे से विशेष भी हुई। साथ ही अङ्गोछे भी छोटे-बड़े हो सकते हैं। फिर नामों की विशेषता से भी छोटा-बड़ा होना सिद्ध होता है। जैसे बेंत और मूठा बेंत बड़ा होता हैं और मूठ से विशेष प्रकार का होता है और मूठ छोटी होती है तथा बेंत में लगाकर उसकी विशेषता समाप्त हो जाती है और वह बेंत को बड़ा बना देती है। परमाणुओं में जो छोटापन है वह नित्य है और उसका कारण भी होता है। क्योंकि एक और एक मिलकर दो परमाणु होते हैं, इसलिये दो होने का कारण एक ही हुआ, दो अर्थात् द्व्यणुक होकर जो कार्य बना वह अनित्य है, उसका छोटापन

अपेक्षाकृत अर्थात् तीन से छोटा होने से है। इस प्रकार वस्तु का दूसरी वस्तु से छोटा होना अपेक्षाकृत ही कहा जायगा।

एककालत्वात् ।।१२।

**सूत्रार्थ**—एककालत्वात्=एक काल में होने से छोटा-बड़ा कह सकते हैं।

**व्याख्या**—किसी वस्तु का छोटा या बड़ा होना यह एक समय में ही सकता है अर्थात् कोई एक वस्तु एक समय में ही छोटी या बड़ी कही जा सकती है। जैसे, आम, आमला और बेर तीन वस्तु रक्खी हैं, उनमें आमले को आम से छोटा कहेंगे और बेर से बड़ा, क्योंकि बेर आमले से छोटा होता है। परन्तु, एक वस्तु में ही बड़ा या छोटा होना नहीं माना जा सकता, क्योंकि छोटा और बड़ा एक दूसरे से विपरीत होता है और एक वस्तु में अनुकूल तथा विपरीत दोनों गुण एक साथ नहीं रह सकते। साथ ही जिस वस्तुका जो आकार प्रकार है, वह उसके नष्ट होने पर वैसा ही रहेगा। जिसमें परमाणुओं की आवश्यकता है वे वस्तु अधिक बड़ी और परमाणुओं की न्यूनता है, वे वस्तु छोटी होंगी। यही बात व्यावहारिक होने से मान्य भी है।

दृष्टान्ताच्च ।१३।

**सूत्रार्थ**—दृष्टान्त्=उदाहरण से, च=भी यही मान्यता सिद्ध होती है।

**व्याख्या**—ऊपर आम, आँवला और बेर का उदाहरण दिया गया, उसी प्रकार से अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। जैसे गाय ऊँट से छोटी होती है, परन्तु, बकरी से बड़ी है। शेर बिल्ली से बड़ा है, इससे बिल्ली शेर से छोटी हुई और बिल्ली से चूहा छोटा होता है, इससे बिल्ली का चूहे से बड़ा होना सिद्ध हुआ हुआ। इसके उदाहरण से

दूसरे का छोटापन सिद्ध करना अपेक्षाकृत है और अपेक्षाकृत बताना ही उदाहरण हैं।

अणुत्वमहत्वयोरणुत्वाऽभावः कर्मगुणः
व्याख्यातः ॥१४॥

सूत्रार्थ—अणुत्वमहत्वयोः= अणुपन और महत्व में, अणुत्वमहत्व =छोटापन और बड़ापन, अभावः=न होना, कर्मगुणैः=कर्म और गुण से, व्याख्यातः=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे गुण और कर्म में छोटापन या बड़ापन नहीं है अर्थात् गुण, कर्म का कोई आकार नहीं उसी प्रकार अणु में और महत् में परिमाण की दृष्टि से कोई छोटाई-बड़ाई नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कर्म में कर्म नहीं होता और गुण में गुण नहीं होता, वैसे ही अणु अर्थात् छोटे का छोटापन-नहीं होता और बड़े का बड़ापन भी नहीं होता।

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणैः ॥१५॥

सूत्रार्थ—कर्मभिः=कर्म से, कर्माणि=कर्म, च=और, गुणैः= गुण से, गुणा,=गुणः का होना, व्याख्याताः=कहा गया है।

व्याख्या—कर्म से कर्म, गुण से गुण के सम्बन्ध में पहले कह चुके हैं अर्थात् कर्म से ही क्रिया होती है, और गुण से गुणत्व। गुण का आश्रय द्रव्य है अर्थात् द्रव्य में गुण रहता है और गुण के कारण ही द्रव्यगुणत्व वाला है।

अणुत्वमहत्वाभ्यां कर्मगुणाश्च ॥१६॥

सूत्रार्थ—अणुत्वमहत्वम्याभ्=अणुत्व और महत्व से, च=भी कर्मगुणाः=कर्म गुण कहे गये।

व्याख्या—जैसे अणुत्व में अणुत्व नहीं होता अर्थात् अणु का अणु नहीं, वैसे ही महत् का महत् नहीं होता। जो छोटा है उसको छोटापन नहीं या बड़प्पन नहीं है, उसी प्रकार गुणों का अणुत्व और महत्व नहीं होता अर्थात् गुणों में छोटापन या बड़ापन नहीं है।

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥१७॥

सूत्रार्थ—एतेन=इससे, दीर्घत्व=बड़ापन, ह्रस्वत्वे=छोटापन' व्याख्याते=कहा गया है।

व्याख्या—सूक्ष्म में सूक्ष्मत्व और स्थूल में स्थूलत्व होता है इसके सिवा उसमें और किसी गुण का अभाव है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म द्रव्य में सूक्ष्मता होने के कारण ही उसका ह्रस्वत्व अर्थात् छोटा होना कहा है और स्थूल में स्थूलता होने से ही दीर्घत्व माना गया है। महत् होना यह परमाणुओं का समुदाय रूप होने से स्थूल है और लघु में सूक्ष्मता होने से उसका नित्य होना भी कहा गया है! अब सूत्रकार परणामों के नित्य या अनित्य होने का विचार करेंगे।

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—अनित्ये=अनित्य द्रव्य में आश्रित परिमाण, अनित्यम् =अनित्य ही होते हैं।

व्याख्या—अनित्य पदार्थ का परिणाम भी अनित्य ही होगा। क्योंकि, आश्रय के नष्ट हो जाने पर कार्य का नष्ट होना आवश्यक है। जैसे धागा टूट जाय तो वस्त्र फट जाता है। अर्थात् वस्त्र फटने का अर्थ धागों का टूटना ही है। परन्तु आश्रित के नष्ट होने पर भी आश्रय का रूप बना रहता है। जैसे घड़ा टूट जाय तो उसके ठीकरों को देखकर यह कह सकते हैं कि यह घड़ा होगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अनित्य का परिमाण नित्य नहीं हो सकता और आश्रित का नाश होने से आश्रय भी नष्ट हो जाय, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

## नित्ये नित्यम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—नित्य=नित्ये द्रव्य में, नित्यम्=नित्य परिमाण होता है।

व्याख्या—नित्य द्रव्यों का परिमाण भी नित्य होता है। आकाश और परमाणु आदि नित्य है, उनका परिमाण भी नष्ट न होने वाला होगा। क्योंकि, आश्रय के नष्ट होने पर परिमाण का नष्ट होना स्वाभाविक है। जिसका आश्रय नित्य है, उसी का परिमाण नित्य हो सकता है।

## नित्यं परिमण्डलम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—परिमण्डलम्=गोल परमाणु का परिमाण, नित्यम्=नित्य होता है।

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् गोल परमाणुओं से बना है, वे परमाणु नष्ट न होने वाले माने गले हैं। गोल वस्तु में आकाश का रहना सिद्ध है तथा अवयव वाली वस्तु में भी आकाश रहता है, जिसमें असमर्थ है उसमें विभाग भी हो सकता है।

## अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥२१॥

सूत्रार्थ–अविद्या=अज्ञान, च=भी, विद्या=ज्ञान का, लिङ्गम्=लक्षण है।

व्याख्या—अविद्या के द्वारा विद्या की पहचान होती है, क्योंकि विद्या अविद्या से विरुद्ध लक्षण वाली है। एक वस्तु के लक्षण का ज्ञान हो, उससे विरुद्ध लक्षण वाली वस्तु की संज्ञा भी विरुद्ध होगीं, इससे विरुद्ध लक्षण से विरुद्ध नामवाली वस्तु जानी जा सकती है। इसी प्रकार महत् परिमाण वाले परमाणु का अणु होना भी जाना जाता है अर्थात् एक परमाणु सूक्ष्म अथवा अणु है तो इसके विपरीत अनेक परमाणुओं

का समूह स्थूल होगा ही अथवा अनेक परमाणुओं के स्थूल होने से ही एक परमाणु का सूक्ष्म होना सिद्ध होता है।

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा ॥२२॥

सूत्रार्थ—तथा=उसी प्रकार, बिभवात्=विभु होने से, आकाश: =आकाश, च=और, आत्मा=आत्मा, महान्=महान् परिणाम वाले हैं।

व्याख्या—आकाश विभु है। क्योंकि उसका सम्बन्ध अवयव वाले प्रत्येक पदार्थ से है और विभु वही हैं जो सबसे बड़ा है। इसलिए आकाश को सबसे बड़ा मानना चाहिए। आकाश का गुण शब्द भी सर्वत्र विद्यमान है, इसलिए उसकी व्यापकता सब जगह होने से वह विभु भी है। इसी द्रकार आत्मा भी अनेक स्थानों से सम्बन्ध रखता है। आज भारत में जन्म लिया है तो दूसरे जन्म में किसी अन्य देश में उत्प न हो सकता है, इस प्रकार किसी भी देश में उत्पन्न होने वाला होने से सभी देशों में या सब स्थानों में उसकी पहुँच है, क्योंकि श्रुतियों में भी उसका एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना कहा है। जो वस्तु गतिमान है, वह विभु हो ही सकती है। इसलिए आत्मा भी है—ऐसा सिद्ध होता है। आकाश और आत्मा के विभु होते हुए भी भेद इतना ही है कि आकाश अवयव वाले पदार्थ के भीतर रहता हैं और बिना अवयव के पदार्थ से बाहर। परन्तु, आत्मा आकाश से अधिक सूक्ष्म होने के कारण अवयव वाले पदार्थ और बिना अवयव वाले पदार्थ दोनों के भीतर और बाहर रह सकता है। किसी-किसी व्याख्याकार ने इस सूत्र में आत्मा से परमात्मा का अर्थ किया है, तो वह अर्थ भी ठीक हैं। क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक होने से विभु है ही। यदि आत्मा को जीवात्मा मानें तो उसके विभु होने के सम्बन्ध में अभी कह चुके हैं। इस प्रकार आकाश और आत्मा दोनों का विभु होना और महान् होना सिद्ध होता है।

तदभावादणु मनः ॥२३॥

सूत्रार्थ—तत्-अभावात्=उसके न होने से, मनः=मन, अणु=अणु के परिमाण का है।

व्याख्या—मन का विभु होना नहीं माना गया, क्योंकि मन को एक समय में एक-एक विषय का ही ज्ञान होता है, एक समय में दो विषयों को ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिये मन एक-स्थानीय हुआ। जो वस्तु एक स्थानीय है उसका विभुत्व नहीं बनता और जो विभु नहीं वह अणु ही हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि मन विभु नहीं अणु अर्थात् ह्रस्व है।

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२४॥

सूत्रार्थ—गुणैः=गुणों के समान ही, दिक्=दिशा, व्याख्याता=कही गई है।

व्याख्या—जैसे गुणों का वर्णन हुआ वैसे ही दिशा का वर्णन समझना चाहिए। प्रत्येक देश में सामने अमुक दिशा है तो पीछे अमुक दिशा होगी और अमुक दिशा में स्थित अमुक नगर अमुक नगर से पहिले होगा या बाद में होगा, इसका भी अनुमान हो जाता है। जैसे दिल्ली से बम्बई दूर हैं, परन्तु आगरा बम्बई से बहुत ही उरली तरफ है। आगरा बम्बई के लिए जाने वाली गाड़ी एक ही है, वह एक ही दिशा को जाती है, इस प्रकार एक ही दिशा में आगरा और बम्बई उसकी उपाधि हुई। इससे सिद्ध हुआ कि उपाधि के भेद से ही दिशाओं में अन्तर प्रतीत होता है। वैसे दिशा एक ही मानी गई है।

कारणेन कालः ॥२५॥

सूत्रार्थ—कारणेन=कारण के समान ही, कालः=काल का वर्णन समझना चाहिए।

व्याख्या—जैसे कारण विभु है वैसे ही काल को भी विभु समझना चाहिए। पहिले, पीछे, देर में, जल्दी मे आदि समय का ज्ञान एक स्थान पर ही नहीं होता, सब जगह हो सकता है इसलिए, इसका व्यापक होना ही कहा जायगा। तथा अमुक व्यक्ति अब उत्पन्न हुआ अथवा अमुक स्त्री के बालक होने में एक महीने की देर है, ऐसा कहने से भी समय का अनुमान होता है और वह अनुमान सभी स्थानों पर हो सकता है, एक ही स्थान पर नहीं हो सकता। इसलिए काल को विभु ही मानना उचित है तथा काल भी एक है उसका अनेक होना सिद्ध नहीं होता यह बात पहले सिद्ध कर चुके हैं।

॥ सप्तमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

# सप्तमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

सूत्रार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शव्यक्तिरेकात्=रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के व्यतिरेक से, एकत्वम्=एक आदि संख्यायें, अर्थान्तरम्=एक से दूसरे में उपलब्ध होती है।

व्याख्या—रूप, रस आदि से अन्य गुणों का भी ग्रहण होने से उन्हें उपलक्षण रूप ही मानना चाहिए। संख्या का बोध कराने वाले पदार्थों के सिवाय गुण-रहित पदार्थों में भी यह संख्या रहित है, इसलिए रूपादि गुणों के भीतर रहने वाले गुणत्व से अलग माना गया हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संख्या केवल रूप, रस आदि में ही नहीं रहती अन्य पदार्थों भी रहती है, इसी से यह सिद्ध होता है कि संख्या रूप रस आदि पदार्थों से भिन्न है तथा इसका अस्तित्व भी अलग है। जैसे

एक घड़ा है, दो घड़े हैं आदि संख्यायें घड़ों में ही नही, दूसरे पदार्थों में भी पायी जाती हैं, क्योंकि, एक धोती, पाँच अगोछे, तीन छतरी आदि कहने से धोती, अगोछा और छतरी मे भी संख्या का बोध अलग-अलग रूप से हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि संख्या रूप आदि से अलग पदार्थ हैं।

तथा पृथक्त्वम् ॥२॥

सूत्रार्थ—तथा=इसी प्रकार, पृथक्त्वम्=पृथक् होना भी रूप आदि से भिन्न ही है।

व्याख्या—जैसे एकत्व अर्थात् एक आदि संख्या अलग पदार्थ है, वैसे ही पृथक्त्व भी भिन्न पदार्थ है। जैसे एक घड़ा दूसरे घड़े से पृथक है, ऐसा कहने से पृथक्त्व अर्थात् अलग होने का बोध होता है। किसी पदार्थ में एकत्व और किसी पदार्थ में अनेकत्व रूप, रस आदि से भिन्न पदार्थ है, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। ये घड़े हैं ऐसा कहने से अनेक घड़ों की एक जाति सिद्ध होती है, परन्तु यह अनेकत्व घड़े से अलग ही है, क्योंकि एक घड़े के लिए, अनेक घड़े हैं ऐसा नहीं कह सकते।

एकत्वैक पृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्व-
महत्वाभ्याँ व्याख्यातः ॥३॥

सूत्रार्थ—एकत्वेकपृथक्त्वयोः=एकत्व और पृथक्त्व में, एकत्वैक-पृथक्त्व अभावः=अन्य एकत्व और पृथक्त्व का अभाव है, ऐसा हीं अणुत्वमहत्वाभ्याम्=अणुत्व और महत्व से व्याख्यातः=कहा गया।

व्याख्या—एकत्व में कोई दूसरा एकत्व नहीं होता और पृथक्त्व में कोई अन्य पृथक्त्व नहीं होता, यह बात अणुत्व में अन्य अणुत्व न होने और महत्व में अन्य महत्व न होने स समान ही समझनी चाहिए।

इसे, इसी अभ्यासके प्रथम आह्निक में समझा चुके हैं कि गुण में गुण नहीं रहता अर्थात् गुण का भी कोई अन्य गुण नहीं है। महत् अर्थात् बड़े का बड़ा और अणु अर्थात् छोटे का छोटा भी अन्य नहीं है। इसी प्रकार, एकत्व का कोई अन्य एकत्व या पृथक्त्व का कोई अन्य पृथक्त्व नहीं है।

नि:संख्त्वात् कर्मगुणानां सर्वेकत्वं न विद्यते ।।४।।

सूत्रार्थ—कर्मगुणानाम्=कर्म और गुणों के, नि:संख्यत्वात्= संख्या-रहित होने से, सर्वैकत्वम्=सब में एकत्व, न =नहीं, विद्यते= होता।

व्याख्या—कर्म और गुण मिलकर भी संख्या रहित होने से एकत्व के अन्तर्गत नहीं आते। संख्या गण नहीं है क्योंकि गुण द्रव्य में रहता है और कर्म भी नहीं है क्योंकि कर्म में गणना नहीं। यदि ऐसा कहें कि गुण और कर्ममें संख्या का आभास इस प्रकार मिलता है कि एक कार्य तुमने किया है दूसरा मैं कर दूंगा-ऐसा कहने से रूप आदि गुणों में और कर्मों में भी संख्या का आभास मिलता है। परन्तु, इसका उत्तर सूत्रकार स्वयं देते हैं—

भ्रान्तं तत् ।।५।।

सूत्रार्थ—तत्—वह, भ्रान्तम्....भ्रम है।

व्याख्या—गुण और कर्म में एकन्व संख्या का ज्ञान भ्रमके कारण ही है। अथवा जो संख्या कर्म और गुण के आश्रित है, वह कर्म और गुण नहीं हो सकती। जैसे गुण द्रव्यों में रहकर भी गुण द्रव्य नहीं हो सकता बल्कि अलग पदार्थ ही है, वैसे ही संख्या को भी अलग पदार्थ समझना चाहिए। इस पर यह शङ्का हो सकती है कि द्रव्यो में भी एकत्व का आभास भ्रान्ति से ही क्यों न माना जाय? इस शङ्का का समाधान आगे के सूत्र में हुआ है—

एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ—एकत्व-अभावात्-एकत्व का अभाव होने से, तु=तो, भक्ति—समान धर्म, न=नहीं, विद्यते=होता है।

व्याख्या—यदि द्रव्यों में एकत्व का अभाव हो तो उन का अस्तित्व ही नहीं रह सकता और जब किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं, भक्ति से होना भी नहीं मान सकते। जो वस्तु अपने स्वरूप से अलग न हो उसे भक्ति कहते हैं। जब एकत्व का अभाव बना तो भक्ति का भी अभाव हो या जब कोई वस्तु देखी हो तभी उसका भ्रम भी हो सकता है। जैसे सर्प देखा जाने से ही रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। उनका कारण यह है कि सर्प की सत्ता है, वह विषधर होने से भयानक है, इस प्रकार उसके स्वरूप का ज्ञान ही रस्सी में सर्प के भ्रम का कारण होगा। सर्प की सत्ता ही न होती तो रस्सी में सर्प का भ्रम भी नहीं हो सकता था। इसी प्रकार द्रव्य में एकत्व रहने पर भी गुण, कर्म में एकत्व का भ्रम हो सकता है।

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥

सूत्रार्थ—कार्य-कारणयोः=कार्य और कारण में, एकत्व एक पृथक्-त्व अभावात्=एकत्व और एक पृथकत्व का अभाव होने से एकत्व-एक पृथक्त्वम्=एकत्व और पृथक्त्व, न=नहीं, विद्यते=होते।

व्याख्या—यदि शङ्का करें कि कार्य और कारण एक ही हैं, उनमें एकत्व या पृथक्त्व नहीं होता, क्योंकि कोई भी वस्तु स्वयं अलग नहीं होती। यदि वस्त्र के धागों को अलग-अलग कर दें तो धागे ही दिखाई देंगे उनसे भिन्न कोई वस्त्र दिखाई नहीं देगा। इसी प्रकार दो ठीकरे अर्थात् कपाल मिलाकर घड़ा बनाते हैं। उन दोनों ठीकरों को अलग-

अलग कर दें तो बड़ा दिखाई नहीं देगा, इससे यह मानना चाहिए कि वस्तु के पृथक्त्व अलग होने से भिन्न कोई वस्तु नहीं, इसलिए कार्य और कारण का एक होना ही सिद्ध होता है। परन्तु, यह शङ्का निर्मूल है, ऐसा सूत्रकार स्वयं सिद्ध करते हैं उनका कथन है कि कार्य कारण का एकत्व नहीं हो सकता। क्योंकि, कार्य का अलग होना और कारण का अलग होना पाया जाता है। यदि कार्य और कारण को एक ही मान लें तो कपास को ही कपड़ा मान लेना होगा। यद्यपि कपास से कपड़ा बनाया जाता हैं, परन्तु कपास कपड़ा न ीं हो सकता यदि कपास ही कपड़ा होता तो उसे धुनकर रुई बनाने, रुई से सूत कातने और सूत से कपड़ा बुनने का झंझट ही क्यों करना पड़ता? इससे सिद्ध होता है कि कार्य और कारण में भेद है। उपादान कारण से कार्य बनता है, परन्तु उपादान कारण स्वयं कार्य हो जाय ऐसा नहीं देखा जाता। मिट्टी के एक कण को घड़ा नहीं कह सकते, बल्कि बहुत से कणों के मिलने पर ही घड़ा संयोगात्मक है। उपादान पदार्थों में मिलने की और कार्य की सिद्धि होती है। कार्य बनने मे पहले कारण और उसमें क्रिया होने की शक्ति तो विद्यमान थी, परन्तु कारण ही कार्य था, नहीं कह सकते।

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥

सूत्रार्थ—एतत्=इसी प्रकार, अनित्ययोः=एकत्व और पृथक्त्व का अनित्य होना, व्याख्यातम्=कहा गया है।

व्याख्या—जैसे एकत्व और पृथक्त्व कार्य और कारण मे नहीं होता, वैसे ही एकत्व और पृथक्त्व को, अनित्य भी माना गया है। इसका तात्पर्य यह है एकत्व और पृथक्त्व को कारण के गुण के अनुसार समझना चाहिए अर्थात् कार्य में कारण के गुणों के अनुसार ही संख्या और पृथक्त्व की सिद्धि होती है। जैसे अनित्य तेज का गुण रूप और स्पर्श

कारण की विशेषता से ही कार्य में रहता है और नित्य द्रव्य में एकत्व और पृथक्त्व अनित्य नहीं हो सकता। साथ ही एकत्व में द्वित्व अथवा अनेकत्व नहीं है। क्योंकि एक ही दो नहीं हो सकते—एक और एक मिलकर ही दो होंगे अथवा अनेक एक का संयोग ही बहुत होगा। इससे समझना होगा कि अनेक का मिलना अनित्य है और उनका अलग हो जाना भी अनित्य है। जो मिलता है, वह अलग-अलग होगा ही। इस प्रकार संयोग है तो विभाग होना भी निश्चित है और यह संयोग विभाग ही अनित्यत्व है। एक और एक का संयोग दो है तथा तीन 'एक' का मिलना ही तीन है जो दो से अधिक है वह बहुत माना जायगा। इसमें शंका करें कि दस कहने से बहुत्व नहीं होता, बल्कि दस की संख्या ही मानना चाहिए, तो यह बात ठीक नहीं मान सकते क्योंकि, बहुत्व के होने पर संख्या का प्रश्न गौण हो जाता है। वहाँ अनेक वृक्ष हैं वहाँ बहुत से मनुष्य हैं, इस टोकरी में फल रखे हैं, ऐसा कहने से संख्या का आभास नहीं होता, बल्कि उनके बहुत होने का अनुमान ही होता है। परन्तु यह बहुत्व एक-एक के संयोग से उत्पन्न होता और उनके अलग-अलग होने पर नष्ट हो जाता है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि एकत्व पृथक्त्व नित्य नहीं, नाशवान हैं।

अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ।।९।।

सूत्रार्थ—अन्यतरकर्मजः=दो में से किसी एक कर्म से उत्पन्न, अथवा, उभयकर्मजः=दोनों के कर्म से उत्पन्न, च=और, संयोगजः =संयोग से उत्पन्न, संयोगः=संयोग ही कहा जायगा।

व्याख्या—दो वस्तुओं के मिलने को संयोग कहते हैं। सूत्रकार ने संयोग के तीन भेद किए हैं (१) दो पदार्थों में से एक में क्रिया है, दूसरा पदार्थ क्रियाहीन है, परन्तु क्रिया वाले पदार्थ के संयोग से क्रिया रहित पदार्थ में भी क्रिया उत्पन्न हो जाय इसे संयोग कहेंगे, (२) दो

पदार्थों में क्रिया हो और दोनों के मिलते पर वे क्रियाशील हो जाँय यह भी संयोग है और (३) दो पदार्थों के मिलने पर दोनों की क्रिया अधिक शक्तिशाली हो वह संयोगज संयोग है। इसे दूसरे प्रकार समझिये—जो पहले प्राप्त न हुआ हो, उसका मिल जाना संयोग है, यह संयोग कर्म के द्वारा हो सकता है। जैसे एक पक्षी वृक्ष पर जा बैठा, पहले वह पक्षी उस वृक्ष पर नहीं बैठा था, अब बैठने से संयोग उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कर्म द्वारा किसी वस्तु का मिलना प्रथम प्रकार का संयोग हुआ इसमें पक्षी क्रिया वाला और वृक्ष क्रिया हीन है। एक आकाश में दो तारे टिम-टिमा रहे हैं, इन दोनों में टिमटिमाना या चमकना ही क्रिया है और एक आकाश में होने के कारण उनका संयोग भी है इस प्रकार दूसरे प्रकार का संयोग सिद्ध हुआ। कहीं दो पदार्थों के मिलने से क्रिया की शक्ति बढ़ जातीं है, पानी से विद्युद्ध उत्पन्न होकर भारी-भारी मशीनों को चलाती है। इसमें पानी और विद्युत् का संयोग ही शक्ति उत्पन्न करता है अथवा अनेक पदार्थों के संयोग से संयोग उत्पन्न होता है जैसे सौ धागों के संयोग से वस्त्र बुन गया और वस्त्र से आकाश का संयोग होता है।

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥

सूत्रार्थ—एतेन=इस प्रकार से, विभागः=विभाग के सम्बन्ध में भी, व्याख्यातः=कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—जैसे संयोग तीन प्रकार का कहा गया है, वैसे ही विभाग भी तीन प्रकार का ही होता है। जिस तरह संयोग है, उसी तरह उसका विभाग है। पक्षी के वृक्षा उड़ जाने पर एक प्रकार का विभाग हुआ। तारों के छिप जाने पर दूसरे प्रकार का और वस्त्र के फट जाने पर तीसरे प्रकार का अथवा जल के सूख जाने पर विद्युत् के न बनने में विभाग हो गया, परन्तु संयोग और विभाग दोनों ही कर्म से उत्पन्न होते हैं। पक्षी ने वृक्ष से उड़ने का कर्म किया, इसी प्रकार

सर्वत्र समझना चाहिए। वस्तुओं के अभाव से संयोग का अभाव हो जाता हैं और वह वस्तु का अभाव एक संयोग के नष्ट होने से सिद्ध नहीं होता जैसे वस्त्र है, उसमें से कुछ धागे टूट जाँय तो वस्त्र का आकार लोप नहीं होगा, उसे फटा हुआ कह सकते हैं।

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्भ्यां
व्याख्यातः ॥११॥

सूत्रार्थ--संयोगविभागयोः=संयोग और विभाग के, संयोग-विभागाभावः=संयोग और विभाग का अभाव, अणुत्वमहत्वाभ्याम्=अणुपर और बड़ापन में, व्याख्याताः=कहा गया है।

व्याख्या—पहले बता चुके हैं कि अणुत्व में अणुत्व नहीं होता और महत्व में महत्व नहीं होता। अर्थात् छोटेपन का छोटापन और बड़ेपन का बड़ापन नहीं होता। इसी प्रकार, संयोग में संयोग और विभाग में विभाग नही होता।

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा अणुत्वमहत्वा
भ्यामिति ॥१२॥

सूत्रार्थ—इति=इसी प्रकार, कर्मभिः कर्माणि=कर्मो में कर्म च=और गुणैः गुणाः=गुणों में गुण, अणुत्वमहत्वाभ्याम्=अणुत्व और महत्व में कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—जैसे अणुत्व में अणुत्व और महत्य में महत्व नहीं रहता तथा संयोग में संयोग और विभाव में विभाग न होना कहा है, वैसे ही कर्म में कर्म नहीं रहता अर्थात् किसी क्रियाशील वस्तु में ही कर्म रहता है। जैसे मनुष्य कार्य करने वाला या हरकत करने वाला है, तो वह ही कर्म कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्म किसी निर्जीव वस्तु में नहीं रहता, चेतन वस्तु ही कर्म करने में समर्थ है।

युतिसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ
न विद्यते ।।१३।।

सूत्रार्थ—युतसिद्धि-अभावात्=युतसिद्धि का अभाव होने से कार्य-कारणयोः=कार्य और कारण में, संयोगविभागौ=संयोग और विभाग, न=नहीं, विद्यते=होता ।

व्याख्या—युत-सिद्ध उस वस्तु को कहते हैं, जिसमें सम्बन्ध के बिना अधिक वस्तु की उपस्थिति हो, अथवा वह वस्तु भी युत-सिद्ध है जो पृथक्-पृथक् दो आश्रयों में रहती हो । अवयव और अवयवों में परस्पर सम्बन्ध होने के कारण इनमें युत-सिद्धि नहीं होती । इसका तात्पर्य है कि मनुष्य जिस स्थान में है, वही उसके शरीर के अवयव होंगे वह शरीर से अधिक स्थान नहीं घेरते इसलिए कार्य और कारण से संयोग और विभाग होना नहीं बनता । क्योंकि एक ही आश्रय में सम्बन्ध का होना और विभाग का होना दोनों नहीं हो सकते । शरीर में अवयव कारण हैं और उनमें शरीर रूपी कार्य मिला हुआ प्रतीत नहीं होता ।

गुणत्वात् ।।१४।।

सूत्रार्थ—गुणत्वात्=गुण होने से भी ऐसा ही मानना चाहिए ।

व्याख्या—संयोग और विभाग द्रव्य और गुण में नहीं मान सकते । क्योंकि, संयोग को गुण मानें तो शब्द के आश्रित गुण के साथ उसका सम्बन्ध हो जाना चाहिए जो कि नहीं होता तथा शब्द गुण का अवयव आदि द्रव्य से भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिल सकता है और अलग भी हो सकता है, परन्तु शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होना भी सिद्ध नहीं होता ।

गुणोऽपि विभाव्यते ।।१५।।

सूत्रार्थ—गुणः=गुण, अपि=भी, विभाव्यते=कहा जाता है

व्याख्या—रूप, रस आदि जो गुण है उनके साथ शब्द का संयोग सम्बन्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि रूप, रस आदि के कहने से रूप, रस आदि गुणों का ग्रहण तो होता है परन्तु उसे कहने से गुणों का संयोग सम्बन्ध नहीं बनता अर्थात् शब्द से कहा जाता है कि यह सुन्दर भवन है, यह पकवान मीठा है, इस प्रकार कह कर ही शब्द समाप्त हो जाता है, वह भजन अथवा पकवान के साथ रहता है, इसलिये उसका संयोग सम्बन्ध होना नहीं माना जाता।

निष्क्रियत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—निष्क्रियत्वात्=शब्द के निष्क्रिय होने से भी ऐसी ही मान्यता होती है।

व्याख्या—शब्द में क्रिया नहीं है और संयोग कभी क्रिया के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। शब्द का अर्थ क्रिया करके शब्द की ओर जाता हुआ भी दिखाई नहीं देता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ के साथ संयोग- नहीं हैं।

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

सूत्रार्थ—इति=इसी प्रकार, असति=सत्-रहित पदार्थ में, च =भी, प्रयोगात्=प्रयोग होने से, न=नहीं, अस्ति=है।

व्याख्या—असत् पदार्थों का तात्पर्य दिखाई न देने वाले पदार्थों से है। भूतकाल के तथा भविष्य में होने वाले पदार्थ दिखाई नहीं देते। परन्तु शब्द द्वारा ऐसे पदार्थों के होने की बात कही जा सकती है। इसी प्रकार जो पदार्थ नहीं हैं उनकी कल्पना भी शब्द द्वारा की जाती है, इस प्रकार असत् पदार्थों का भी शब्द के द्वारा ज्ञान होने से शब्द को संयोगात्मक नहीं मान सकते।

शब्दार्थाभावः सम्बन्धी ॥१८॥

सूत्रार्थ—शब्दार्थ=शब्द और अर्थ में, सम्बन्धी=सम्बन्ध का अभाव=अभाव है।

व्याख्या—शब्द और अर्थ में भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि, शब्द जिस बात को कहता है, वह बात उससे अलग ही रहती है। शब्द बात कहकर समाप्त हो जाता है, इसलिए भी शब्द और अर्थ में संयोगे-सम्बन्ध का होना सिद्ध नहीं होता।

संयोगिनोदण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥१९॥

सूत्रार्थ—संयोगिनः=संयोगी मनुष्य का, दण्डात्=दन्ड से, च=और, समवायिनः=समवाय सम्बन्ध वाले का विशेषात्=विशेषता से, ग्रहण होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस मनुष्य के साथ दण्ड है उसे दण्डी पुरुष कहते हैं उस दण्डी शब्द के ज्ञान में दण्ड और पुरुष का संयोग सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार मनुष्य जिन अवयवों के मिलने से बना है, उन सब अवयवों के मिले होने पर ही उसे मनुष्य कहा जायगा इसके विपरीत थोड़े अवयवों को मनुष्य नहीं कह सकते। क्योंकि सब अवयवों के मिलने की विशेषता ही उसकी मनुष्य संज्ञा होती है। जैसे मिट्टी के बहुत से कण मिलने पर ही घड़े की शकल बनेगी, घड़ा न बनने पर मिट्टी के कणों को घड़ा नहीं कह सकते, तो यह घड़ा उन कणों का समवाय सम्बन्ध सिद्ध करता है, परन्ते घड़े के साथ शब्द सम्बन्धित नहीं रहता, इसलिये शब्द का उसके साथ समवाय सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसी से सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ में भी समवाय सम्बन्ध का होना नहीं माना जा सकता।

सामयिकः शब्दादर्थ प्रत्ययः ॥२०॥

सूत्रार्थ—शब्दात्=शब्द से, अर्थप्रत्ययः—अर्थ का प्रत्यय,=संकेत के नियम से है।

व्याख्या—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सांकेतिक नियम से होता है अर्थात इस शब्दका ऐसा अर्थ मानना चाहिये अथवा इस शब्द का यह

अर्थ बनता है यह शब्द के पर्याय अर्थात् एक शब्द के दूसरे नाम पर आधारित हैं। जैसे जल को पानी भी कहते हैं, जल का अर्थ पानी ही होगा दूध नहीं होगा। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द का अर्थ वस्तुओं के लिए निश्चित है। मनुष्य जिसके लिये कहा है, उसी के लिये प्रयुक्त होगा हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल आदि के लिये मनुष्य नहीं कह सकते, इसी प्रकार जिस प्राणी की हाथी संज्ञा है, उसी प्राणी को हाथी कहेंगे, उसे घोड़ा नहीं कहेंगे। इससे यही मानना चाहिये प्रत्येक शब्द के लिये निश्चित सङ्केत है और सङ्केत के निश्चित होने से ही शब्द को सांकेतिक कहा गया है। लौकिक और वैदिक शब्दों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझना चाहिये। जो शब्द लौकिक है, उसमें सांसारिक बातें होंगी और जो वैदिक हैं, उनमें आध्यात्मिक विषय होंगे। कौन सा शब्द लौकिक है, कौन सा वैदिक है इसकी पहिचान, उन शब्दों के लिये जो अर्थ निश्चित हैं उनमें ही होती हैं। विभिन्न भाषाओं में एक वस्तु के विभिन्न नाम होते हैं, जैसे कपड़ा, वस्त्र, क्लौथ एक वस्तु के नाम है। इनमें शब्द कीं विभिन्नता दिखाई देने पर भी एक अर्थ का अनुभव करते हैं, इस प्रकार शब्द का साँकेतिक सम्बन्ध ही मानना चाहिये, उससे संयोग सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

एक दिग्भ्यामेककालाभ्यां सन्निवृष्टचिप्रकृष्टाभ्यां
परमपरञ्च ॥२१॥

सूत्रार्थ—एकदिग्भ्याम्=एक दिशा में रहने वाले एक कालाभ्याम्=एक काल में ही उत्पन्न हुये सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टाभ्याम्=पास या दूर से, परम=पर, च=और, अपरम्=अपर होता है।

व्याख्या—पर और अपर की उत्पत्ति दो प्रकार से कही गई है—एक दिशा से सम्बन्धित और दूसरी काल से सम्बन्धित। यद्यपि काल

एक है, शिदा भी एक है, परन्तु बीच की दूरी कम अधिक होने से परत्व या अपरत्व कहा जाता है। समय के पास या दूर होने से भी परतत्व या अपरत्व होता हैं। जैसे चार बजे बाद सवाचार, साड़ेचार पाँच इत्यादि बजेंगे परन्तु, चार के बाद सवाचार अधिक निकट है और पाँच दूर है तो सवाचार बजे में अपरत्व और पाँच बजे में परत्व का बोध होगा। दिशा का भी इसी प्रकार परत्व, अपरत्व समझना चाहिए। जैसे उत्तर दिशा में चलें तो दिल्ली से मेरठ भी उत्तर में है और देहरादून भी परन्तु मेरठ पास है, इसलिए उसमें अपरत्व और देहरादून दूर है, उसमें परत्व की प्रतीति होगी।

कारणपरत्वात्कारणापरत्वाच्च ।।२२।।

सूत्रार्थ—कारणपरत्वात्=कारण से परत्व, च=और, कारण-अपरत्वात्=कारण से अपरत्व होता है।

व्याख्या—कारण के निकट होने या दूर होने से भी परत्व अपरत्व उत्पन्न होता है। परन्तु, कारण में परत्व अपरत्व का होना काल के संयोग से है। इस प्रकार परत्व और अपरत्व का कारण काल में होना सिद्ध होता है।

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्वाभ्यां व्याख्यातः ।।२३।।

सूत्रार्थ - परत्व-अपरत्वयोः=परत्व और अपरत्व में, परत्व, अपरत्व-अभावः=परत्व और अपरत्व का न होना अणुत्वमहत्वाभ्याम्=अणुत्व और महत्व में, व्याख्यातः=कहा गया है।

व्याख्या —जिस प्रकार अणुत्व का अणुत्व और महत्व का महत्व न होना कहा है, वैसे ही परत्व में परत्व और अपरत्व में अपरत्व नहीं होता। इसलिए, इसे अणुत्व और महत्व के समान ही समझना चाहिये।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः ॥२४॥

सूत्रार्थ—कर्मभिः=कर्मों से, कर्माणि=कर्म और, गुणैः=गुणों से, गुणाः=गुण हैं।

व्याख्या—जैसे, कर्म में क्रिया नहीं होती अर्थात् कर्त्ता के द्वारा ही कर्म हो सकता है, कर्म स्वयं कोई क्रिया नहीं करता और गुणों में गुण नहीं होता, इसी प्रकार परत्व में परत्व और अपरत्व में अपरत्व नहीं होता।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः सः समवायः ॥२५॥

सूत्रार्थ—यतः=जिससे, कार्यकारणयोः=कार्य और कारण में, इति=ऐसा प्रतीत हो कि, इह इदम्=इसमें यह है, सः=वह, समवायः=समवाय कारण समझना चाहिए।

व्याख्या—कार्य और कारण में 'यह है' ऐसा अनुमान होना समवाय कारण है। जैसे मिट्टी घड़े का कारण है और घड़ा मिट्टी का कार्य है। इन दोनों का सम्बन्ध समवाय कहा जायगा। धागों में वस्त्र है मनुष्य में मनुष्यत्व है, आत्मा में ज्ञान है, अनाज में पकवान है इत्यादि ज्ञान का उत्पन्न होना समवाय सम्बन्ध से ही सिद्ध होता है।

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधाभावेन व्याख्यातः ॥२६॥

सूत्रार्थ—द्रव्यत्व गुणत्व प्रतिषेध=द्रव्यत्व और गुणत्व का निषेध भावेन=भाव के साथ, व्याख्यातः=कहा जा चुका है।

व्याख्या—यह पहले कह चुके हैं कि गुण, कर्म से सत्ता भिन्न वस्तु है। उसे केवल ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। इसी प्रकार समवाय भी द्रव्य और गुण आदि से भिन्न है।

तत्वम्भावेन ॥२७॥

सूत्रार्थ—तत्वम्=एकत्व और नित्यत्व, भावेन=होने से कहा गया समझना चाहिये ।

व्याख्या—जैसे सत्ता एक और नित्य है, वैसे ही समवाय भी एक और नित्य है, क्योंकि एक ही समवाय, एक समय में ही सब स्थानों पर रहने वाला होने से विभु एवं नित्य है । वह किसी भी लक्षण से एक से अधिक प्रमाणित नहीं होता । वह देश-काल के भेद से उपलब्ध होने पर भी एक होने से नित्य ही है ।

॥ सप्तमोऽध्याय—द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ॥



# अष्टमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

द्रव्येषु ज्ञानम् व्याख्यातम् ॥१॥

सूत्रार्थ—द्रव्येषु=द्रव्य के प्रति, ज्ञानम्=ज्ञान का, व्याख्यातम्=वर्णन किया जा चुका है।

व्याख्या—द्रव्य विषयक ज्ञान के सम्बन्ध में पहिले कहा जा चुका है। परन्तु कुछ प्रत्यक्ष न होने वाले द्रव्य भी हैं, उनका वर्णन आगे किया जा रहा है। उनमें मन पर्याय-रूप में बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान माना गया है। बुद्धि के दो भेद हैं स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविक बुद्धि ही आत्मा का धर्म होने से वह नित्य भी है, परन्तु नैमित्तिक बुद्धि मन की वृत्ति कही गई है, इसलिये वह अनित्य समझनी चाहिये।

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥२॥

सूत्रार्थ—तत्र=उन द्रव्यों में, आत्मा, च—और, मनः—मन, अप्रत्यक्षे=नहीं है।

व्याख्या—आत्मा, मन, वायु आकाश, काल, दिशा आदि अप्रत्यक्ष हैं। पञ्चभूतों में पृथिवी, जल, अग्नि ये तीन प्रत्यक्ष द्रव्य हैं, इनमें मन की वृत्ति-रूप बुद्धि तीन प्रकार की मानी जाती है-सत्-विद्या, विद्या और अविद्या। सत् विद्या उस ज्ञान को कहते हैं जो तीनों काल अर्थात् भूत, भविष्यत् वर्तमान में एक-सा रहे। इसका तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान में भूत, भविष्यत् वर्त्तमान् में रहने वाले पदार्थों की जानकारी हो, वह सत् विद्या है। इस ज्ञान के द्वारा जीवात्मा, परमात्मा और परमाणुओं के अस्तित्व की प्रतीति होती है, ऐसा ज्ञान अपरिवर्तित भी

है पदार्थ के वास्तविक रूप का ज्ञान जिसके द्वारा हो, वह विद्या है। यह विद्या चार प्रकार की कही गई है—प्रत्यक्ष, लिङ्ग-स्मृति और आर्ष, इन्द्रिय और उसके विषयों के सम्बन्ध में जो ज्ञान हो—वह प्रत्यक्ष विद्या है। अनुमान के द्वारा अथवा लक्षण से किसी वस्तु का होना अनुमान कर लिया जाय वह लिंग-विद्या है। देखने-सुनने से जो बात समय पर याद हो जाती हो, वह स्मृति है तथा जिस ज्ञान की प्राप्ति आप्त-उपदेश अर्थात् सत्पुरुषों के उपदेश से हो आर्ष विद्या है। अब अविद्या के लक्षण कहते हैं—किसी वस्तु के यथार्थ रूप को भ्रम से दूसरा रूप समझना अविद्या हैं। इसके चार भेद कहे गये हैं—संशय, विरुद्ध, स्वप्न और अविश्वास। वस्तु के यथार्थ रूप में संशय हो कि यह अमुक वस्तु है या नहीं—इसे संशय कहते हैं। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप विरुद्ध ज्ञान है। जैसे रस्सी को सर्प समझने का भ्रम। स्वप्न में जिन दृश्यों का ज्ञान हो, वह भी यथार्थ न होने से भ्रम ही है और आत्मा को अनात्मा और अनात्मा को आत्मा समझना अथवा 'आत्मा है' ऐसा न मानना यह अविश्वास रूप अविद्या ही है। इस सूत्र में जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष ज्ञान न होने की बात कही है। उन वस्तुओं का ज्ञान अनुमान आदि से होने के कारण अप्रामाणिक नहीं है, प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद माने गये हैं, उनमें साधारण मनुष्यों के प्रत्यक्ष ज्ञान में भी भ्रम हो सकता है अर्थात् साधारण व्यक्ति को रस्सी का सर्प दिखाई दे सकता है, परन्तु योगियों को जो ज्ञान होता है वह यथार्थ होता है, उनके कथन या अनुमान में भ्रम नहीं हो सकता।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥३॥

सूत्रार्थ—ज्ञाननिर्देशे=ज्ञान का निर्देश होना, ज्ञाननिष्पत्ति-विधिः =ज्ञान के उपार्जन की रीति से, उक्तः=कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—जिस कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उसी प्रकार प्राप्त होना समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस विषय का ज्ञान हो और वह ज्ञान जिस प्रकार और धर्म वाला हो, उसका वर्णन उसकी उत्पत्ति के कारण सहित किया जाता है। जैसे हाथ की रेखा वाला ज्ञान हस्त-सामुद्रिक या हस्त-रेखा कहा जाता है। नेत्र से ग्रहण होने वाला ज्ञान चाक्षुष है। इसी प्रकार अन्य भेदों को समझना चाहिए।

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यकारणम् ॥४॥

सूत्रार्थ—सन्निकृष्टेषु=इन्द्रिय की निकटता में, गुणकर्मसु=गुणों और कर्मों के, ज्ञाननिष्पत्तिः=ज्ञान की उपलब्धि होने पर, द्रव्यम्=द्रव्य को कारणम्=ज्ञान का कारण समझना उचित है।

व्याख्या-- रूपादि गुण का ज्ञान अर्थात् यह उछलता है, यह गिरता है ऐसे ज्ञान का कारण द्रव्य है। द्रव्य के बिना गुण कर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। आशय यह है कि द्रव्य होगा तभी उसका रूप दिखाई देगा और द्रव्य में ही कर्म हो सकता है। अर्थात् गेंद है तभी वह फेंकी जा सकती है। गेंद न होगी तो क्या फेंकोगे? और गेंद है तो वह नेत्र से दिखाई देने से प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है और उस ज्ञान का कारण भी गेंद हैं। यदि गेंद नहीं होगी तो 'गेंद है' ऐसा ज्ञान हो ही नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य से ही गुण, कर्म का ज्ञान हो सकता है द्रव्य के विना उसका ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाऽभावात्तत एव
ज्ञानम् ॥५॥

सूत्रार्थ—सामान्यविशेषेषु=सामान्य और विशेषों में, सामान्य विशेष-अभावात् = अन्य सामान्य और विशेष का अभाव

होने से, ततः=उससे, एव=ऐसा ही, ज्ञानम्=ज्ञान उत्पन्न होती है।

व्याख्या—सामान्य सत्ता और द्रव्यों के गुण, कर्म, रूप आदि की प्रत्यक्षता का कारण वह स्वयं ही हैं, उसकी सत्ता का बोध किसी अन्य के द्वारा नहीं होता सूत्र का अर्थ है कि सामान्य और विशेष में सामान्यता और विशेषता न होने से ही ज्ञान प्रकट होता है। जो द्रव्य अपने द्रव्यपने से सामान्य गुण वाला है, वही अपने गुण विशेष के अस्तित्वसे विशेषता वाला भी है, इसलिये इसमें अस्तित्व की ही विशेषता है। इसमें सामान्य और विशेष अपेक्षासे होने के कारण ही ज्ञान की उत्पत्ति इस प्रकार कही गई है। इस प्रकार द्रव्य के सामान्य गुण होनेसे उसमें सामान्य न होना और गुण की विशेषता के अतिरिक्त अन्य विशेषता न होना, अपेक्षा से ज्ञान का होना सिद्ध करता है।

सामान्यविशेषापेक्षम् द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मसु=द्रव्य, गुण और कर्मके विषय में, सामान्य-विशेष-अपेक्षम्=सामान्य और विशेष की अपेक्षा से ज्ञान का उत्पन्न होना समझना चाहिए।

व्याख्या—सामान्य और विशेष की अपेक्षा से द्रव्यों में गुण और कर्म होने का ज्ञान होता है। अथवा द्रव्य, गुण, कर्म में जो द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व है, उससे विशेष ज्ञान की उत्पत्ति के साथ इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध आवश्यक है अर्थात् यह पदार्थ है, उसे देखकर उसमें क्रिया की जा सकेगी और क्रिया से ही उसका रूप आदि होगा। उसमें सामान्य और विशेष की आवश्यकता है क्योंकि यह द्रव्य है, यह गुण है, वह कर्म है ऐसा ज्ञान उन-उनकी उत्पत्ति की आवश्यकता से ही सम्बन्धित है।

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥

सूत्रार्थ—द्रव्ये=द्रव्य में, द्रव्य गुणकर्म अपेक्षम्=द्रव्य, गुण, कर्म की अपेक्षा वाला ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—द्रव्य के विषय में द्रव्य, गुण कर्म की अपेक्षा वाला ज्ञान होता है। जैसे कोई कहे कि बुर्जी वाला मन्दिर बन रहा है। इसमें मन्दिर द्रव्य और बुर्जी उसकी विशेषता प्रदर्शित करने वाला गुण है तथा बन रहा कर्म है। इस प्रकार विशेष को जानने से ही विशिष्ट का ज्ञान होता है। मन्दिर बहुत से हैं, परन्तु कौन-सा मन्दिर बन रहा है, इसका ज्ञान बुर्जी में हो सकता हैं। अथवा 'वह मकान लाल रङ्ग का हैं, इसमें लाल रङ्ग ही उस मकान की विशेषता को प्रकट करता है। लाल रङ्ग न कहने से उसकी विशेषता का प्रश्न नहीं उठता और मकान तो बहुत हैं किस मकान के प्रति कहा गया, यह बिना विशेषता के नहीं जाना जा सकता।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावात् गुणकर्मापेक्ष न विद्यते ॥८॥

सूत्रार्थ—गुण कर्मसु=गुणों और कर्मों में, गुणकर्म-अभावात्=अन्य गुण, कर्म का अभाव होने से गुण कर्म अपेक्षम्=गुणों और कर्मों की अपेक्षा वाला ज्ञान, न=नहीं, विद्यते=विद्यमान रहता है।

व्याख्या—गुण कर्म में गुण कर्म नहीं रहता इसलिए उनके जानने में भी गुण-कर्म में भी, कोई क्रिया नहीं होती यह बात इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि कर्म स्वयं कोई वस्तु नहीं हैं, कर्त्ता जब क्रिया करता है तभी कर्म होता हैं। जब कुम्भकार बर्तन बनाने का कार्य करेगा, तभी बर्तन बनने की क्रिया होगी, जब वह कार्य न करेगा, तो बर्तन बनेगा ही नहीं

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्बुद्धेश्च श्वेते बुद्धिः ते
एते कार्यकारणभूतेः ।।९।।

**सूत्रार्थ**—समवायिनः=समवायि द्रव्य के, श्वैत्यात्=सफेद आदि गुण होने से, च=और श्वैत्यबुद्धेः=सफेदपने के ज्ञान से, श्वेते=सफेद पदार्थ में, बुद्धिः=ज्ञान उत्पन्न होता है, ते=वे दोनों, एते=यह, कार्यकारणभूते=कार्यभूत एवं कारणभूत ज्ञान हैं।

**व्याख्या**—चाँदी, शंख, सीप यह तीनों सफेद रङ्ग के हैं। इनका सफेद होना तो कारण ज्ञान है और यह सफेद वस्तु है, वहाँ चाँदी रूप द्रव्य का सफेद होना विशेषता है और यह विशेषता समवाय सम्बन्ध से है। इसलिए चाँदी के ज्ञान में उसकी आवश्यकता है, परन्तु गुण कर्म में, गुण कर्म का समवाय सम्बन्ध नहीं रहता, इसीलिए, इसमें उसकी आवश्यकता नहीं रहती।

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ।।१०।।

**सूत्रार्थ**—द्रव्येषु=अनेक द्रव्यों में, अनितरेतरकारणाः=परस्पर कारण नहीं माने जाते।

**व्याख्या**—अनेक द्रव्य होने से उनके ज्ञान में भी अनेकता होगी। परन्तु द्रव्यों के ज्ञान में, एक दूसरे द्रव्य परस्पर ज्ञान के कारण नहीं हो सकते। जैसे चाँदी का ज्ञान सीप के ज्ञान का कारण नहीं हो सकता अर्थात् चाँदी है तो यह नहीं कह सकते कि यह सीप हैं।

कारणयोगपद्यात्कारणक्रमाच्च घटपटादि-दुद्धिनां
क्रमौ न हेतुफलभावात् ।।११।।

**सूत्रार्थ**—कारणायौगपद्यात्=ज्ञान के कारणों के एक साथ उत्पन्न होने से, च=और, कारणक्रमात्=कारणों के क्रम से, घटपटादिबुद्धीनाम् = घड़ा और कपड़े आदि के ज्ञानों में,

क्रम:=क्रम पूर्वक है, हेतुफलभावात्=कारण का फल होने, से न= नहीं है।

व्याख्या—किसी को पहिले कपड़े का ज्ञान हो, फिर घड़े का ज्ञान हो तो यह दोनों ज्ञान एक दूसरे के कार्य अथवा कारण नहीं हो सकते। बल्कि इस ज्ञान के कारण ही एक पहिले प्रत्यक्ष हुआ दूसरा बाद में प्रत्यक्ष हुआ। एक साथ दोनों वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति मन के बिना नहीं हो सकती और मन एक विषय के ज्ञान को ही एक समय में प्राप्त कर सकता है, अर्थात् 'यह घड़ा हैं' और 'यह कपड़ा है' ऐसा ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। क्रमपूर्वक अर्थात् कोई आगे होगा, कोई पीछे होगा। इससे यही सिद्ध होता है कि दो या अधिक वस्तुओं के ज्ञान अलग-अलग समय में ही होंगे, एक साथ नहीं हो सकते।

।। अष्टमोऽध्याय:—प्रथमाह्निकं समाप्तम् ।।

# अष्टमोऽध्याय:—द्वितीयाह्निकम्

अयमेष त्वया कृतम् भोजयैनमितिबुद्धयपेक्षम् ।।१।।

सूत्रार्थ—अयम्=यह है, एष=वह है त्वयाकृतम्=यह तूने किया है, एनम्भोजय=इसका भोजन कराओ, इति=इस प्रकार का ज्ञान बुद्धि-अपेक्षम्=बुद्धि की अपेक्षा से होता है।

व्याख्या—इन्द्रिय का सम्बन्ध जिस वस्तु के साथ होता है, उसे वस्तु के प्रति 'यह है' ऐसा ज्ञान होता है। तथा जिस वस्तु को इन्द्रिय ग्रहण नहीं करता है, उसके लिए 'वह है' ऐसा कहा जाता है। यह कार्य तेरे द्वारा हुआ, इसको भोजन कराओ, यह वीर पुरुष है इत्यादि ज्ञान

की उत्पत्ति बुद्धि के द्वारा होती है अर्थात् बुद्धि जिस कार्य को जिस रूप में आवश्यक समझती है उनका वैसा ही ज्ञान प्राप्त करती है। विषय के सम्बन्ध से ज्ञान होता हैं और जैसा विषय होता है, उसका वैसा ही वर्णन शब्दों के द्वारा होता है। जो वस्तु सामने वर्तमान है, उन्हीं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और ज्ञान बुद्धि की सहायता से होता है—यही सूत्र का तात्पर्य है।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥२॥

सूत्रार्थ—अदृष्टेषु=दिखाई पड़ने वाले विषयों में, भावात्=होने से, और, अदृष्टेषु=न दिखाई पड़ने वाले विषयों में, अभावात्=न होने से होना, न होना माना जाता है।

व्याख्या—दिखाई न पड़ने वाले विषयों का ज्ञान पहिले देखी गई वस्तु के आधार पर होता है और जब वे दिखाई नहीं देती तब यह कहा जाता हैं कि अमुक वस्तु नहीं है। जैसे घड़ा या उससे टूट जाने पर यही कहना होगा कि अब घड़ा नहीं है। इस प्रकार घड़े का अभाव माना जायगा। वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, उसका अस्तित्व, सामने होने से माना जाता है। अथवा जो वस्तु है, परन्तु आँखों से दिखाई नहीं देती, उसका भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मान सकते। जैसे कोई राज-भवन बहुत सुन्दर है, उसकी सुन्दरता देखने के लिये ही हमने उसे देखा था, और घर आने पर उस राजमहल का आकार-प्रकार तो मन में बना रहा, परन्तु, राजमहल सामने नहीं है, तो हमारे लिये उसका अभाव ही होगा। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु सामने है उसका होना और जो सामने नहीं है उसका न होना मानना चाहिये। परन्तु, परोक्षवस्तु का ज्ञान भी प्रत्यक्ष वस्तु पर आधारित है, इसलिये उस वस्तु का अत्यन्त अभाव नहीं कह सकते। क्योंकि प्रत्यक्ष विषय का ही ज्ञान होता है: लुप्त अर्थात् छिपे हुए विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता, उन्हें अनुमान से जाना जाता है।

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥

सूत्रार्थ—द्रव्यगुणकर्मसु=द्रव्य, गुण, कर्म में, इति=इस प्रकार, अर्थः=अर्थ किया जाता है।

व्याख्या—अर्थ शब्द का व्यवहार द्रव्यों के गुणों और कर्मों में होता है। अर्थात् वहाँ कहीं अर्थ करने की आवश्यकता हो वहाँ द्रव्य, गुण, कर्म की दृष्टि से ही अर्थ करें। अर्थ शब्द का वर्णन तीनों के प्रति किया जाने से यह समझना चाहिए कि द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में ही अर्थ है।

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वम् ॥४॥

सूत्रार्थ—द्रव्येषु=कार्य-द्रव्य में, पञ्चात्मकत्वम्=पञ्चतत्व का होना माना गया है।

व्याख्या—द्रव्यों में जो कार्य-द्रव्य हैं, वे पञ्चभूतों से बने हैं। शरीर और इन्द्रिय आदि कार्य-द्रव्य कहे गये हैं। जो इन्द्रिय जिस तत्व से मिश्रित है, वह उसी तत्व के नियमित विषय को ग्रहण करती है। इससे सिद्ध होता है कि एक-एक भूत के नियमित विषय वाली एक-एक इन्द्रिय है। इस प्रकार शरीर पञ्च-तत्वों से बना हुआ सिद्ध होता है।

भूयस्त्वाद्गंधवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥५॥

सूत्रार्थ—भूयस्त्वात्=अधिक होने से, च=और, गन्धवत्वात्=गन्ध वाली होने से, पृथिवी=पृथ्वी-तत्व-गन्धज्ञाने=गन्ध के ज्ञान से, प्रकृतिः=उपादान कारण इन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान होता है, वह नासिका है और नासिकाकी प्रकृति अर्थात् उपादान कारण पृथिवी मानी गई है। तात्पर्य यह है कि पृथिवी का गुण गन्ध है और नासिका पृथिवी में गुण गन्ध को ही ग्रहण करती है इसलिए पृथिवी को उसको बनाने वाली

कहा है। पृथिवी गन्ध वाली है, गन्ध न होती तो वह गन्धवती नहीं हो सकती थी और नासिका का कार्य केवल गन्ध ग्रहण करना ही है, इसलिये नासिका पृथिवी के गुण से अभिभूत होने के कारण पृथिवी तत्व से उत्पन्न समझनी चाहिए। ऊपर कह चुके कि प्रत्येक इन्द्रिय को बनाने वाला एक नियमित तत्व है, उस कथन में भी इसकी पुष्टि होती है।

तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शज्ञानेऽविशेषात् ।।६।।

सूत्रार्थ—तथा=इसी प्रकार, अविशेषात्=किसी प्रकार की विशेषता न होने से, आप:=जलतत्व, तेज:=अग्नितत्व, च=और, वायु· वायु तत्व, रसरूपस्पर्शज्ञाने:=रस रूप और स्पर्श ज्ञान के उपादान कारण माने जाते हैं।

व्याख्या—जैसे नासिका का उपादान कारण पृथिवी को कहा गया है, वैसे ही जल, अग्नि, वायु को भी उपादान कारण माना गया है। जल का स्वाभाविक गुण रस है और रस को जिह्वा ग्रहण करती है, इसलिये जिह्वा का उपादान कारण जल तत्व है। तेज का स्वाभाविक गुण रूप है और रूप को ग्रहण करने का कार्य नेत्र का है, इसलिये नेत्र का उपादान कारण अग्नि तत्व मानना चाहिये। इसी प्रकार, वायु का स्वाभाविक गुण स्पर्श है और त्वचा द्वारा ही स्पर्श का अनुभव होता है इसलिये स्पर्श गुण वाली त्वचा का उपादान कारण वायु हुआ। अब, शंका होती है कि सूत्रकार ने आकाश तत्व को किसी इन्द्रिय का उपादान कारण क्यों नहीं कहा तो इसका समाधान यह है कि 'च' शब्द से सूत्रकार ने जल, अग्नि, वायु के साथ 'और' कहा है, इससे आकाश तत्व का भी अनुमान कर सकते हैं। जहाँ अवकाश हो, उसका उपादान आकाश होगा अथवा आकाश का गुण शब्द है और कान शब्द को ग्रहण करते हैं इसलिए कानों का उपादान कारण आकाश तत्व हैं। कान में अवकाश अर्थात् गढ़ा रूप स्थान भी है, इसलिए कान ही आकाश तत्व का कार्यरूप समझना चाहिये।



।। अष्टमोऽध्याय:—द्वितीयाह्निकम् समाप्तम् ।।

# नवमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

क्रियागुणव्यपदेशोऽभावात् प्रागऽसात् ॥१॥

सूत्रार्थ—क्रियागुणव्यपदेश:=क्रिया और गुण का व्यवहार, अभावात्=न होने से प्राक्=उत्पन्न होने से पहले इनका, असात्= अभाव था अर्थात् वे विद्यमान नहीं थे।

व्याख्या—कार्य द्रव्य अपनी उत्पत्ति से पहिले विद्यमान नहीं रहते। यदि कहें कि वे लुप्त हो जाते हैं परन्तु उनकी सत्ता नष्ट नहीं होती तो, यह बात ठीक नहीं है क्योंकि कार्य द्रव्य उत्पन्न होने से पहिले विद्यमान होते तो उनकी कोई क्रिया अथवा गुण अवश्य दिखाई देता। परन्तु, क्रिया का गुण प्रत्यक्ष न होने से यही मानना ठीक है कि वे उत्पत्ति से पहले नहीं थे। साथ ही यह भी मानना होगा कि उत्पत्ति के समय उत्पन्न करने वाला भी होना चाहिये, परन्तु उससे पहिले उत्पन्न करने वाले का भी अभाव था। आशय यह है कि यदि वस्त्र, बर्तन आदि अपने उत्पन्न होने से पहिले विद्यमान होते तो उनका गुण भी प्रत्यक्ष होता। जैसे उनके उत्पन्न होने पर कहते हैं कि यह वस्त्र बड़ा सुन्दर है यह बर्तन पीला है, यह मकान बड़ा है। परन्तु उनके उत्पन्न होने से पहिले ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि, वे वस्तुयें थी ही नहीं, जो दिखाई देतीं। यहाँ यह शंका होगी कि दूर की वस्तु या ओट में छिपी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती परन्तु वे होती तो हैं हीं, इसी प्रकार उत्पन्न न हुई वस्तुओं का होना मानना चाहिए। इसका समाधान यह हैं कि ओट से छिपी वस्तु या दूर की वस्तु का अभाव नहीं होता, वह अपने अस्तित्व में होती है। परन्तु उत्पत्ति से पहिले वस्तु का अभाव

होता है और हम जुलाहे को वस्त्र बुनते हुए या बर्तन बनाने वाले को बर्तन बनाते हुये प्रत्यक्ष देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि बनने से पहिले वस्तु का अभाव था। क्योंकि द्रव्यों के अवयवों के मिलने से भी कार्य बनता है और जब द्रव्यों का संयोग नहीं होता तब कार्य नहीं बन पाता। घड़ा के फट जानेपर उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है, टूटे हुए ठीकरों को घड़ा नहीं कह सकते, इससे भी सिद्ध होता है कि उत्पन्न होने से पहिले कार्य द्रव्य का अस्तित्व नही था।

सदसत् ॥२॥

सूत्रार्थ—सत्=कारण रूप से होना तथा, असत्=कार्य रूप से न होना, उत्पत्ति से पहिले ऐसा ही माना जाता है।

व्याख्या—कार्य-द्रव्य अपने रूप में नहीं रहता, परन्तु, कारण रूप में विद्यमान रहता है। जैसे घड़े का कारण मिट्टी है और टूट जाने पर घड़ा मिट्टी हो जाता है। इस प्रकार घड़े के टूटने से उसका तो अभाव हो गया। परन्तु, उसके कारण-रूप मिट्टी का अभाव नहीं हुआ। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि उत्पन्न होने से पहिले, कार्य अपने रूप में तो विद्यमान नहीं रहता, परन्तु कारण रूप में विद्यमान रहता है।

असतः क्रियागुणव्यपदेशोऽभावादर्थान्तरम् ॥३॥

सूत्रार्थ—असतः=उत्पन्न न हुये, द्रव्य में, क्रियागुणव्यपदेशः=क्रिया और गुण के व्यवहार का अभावात्=अभाव होने से, अर्थान्तरम्=पदार्थ-भेद का ज्ञान होता है।

व्याख्या—सत् पदार्थ और असत् पदार्थ में अन्तर होना है। वे एक जैसे नहीं हो सकते, क्योंकि, असत् कार्य में कोई क्रिया ही गुण नहीं होता तथा सत्कार्य में क्रिया और गुण प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इसलिए, उत्पत्ति से पहिले जिसकी सत्ता नहीं और जिसका उत्पन्न होना प्रत्यक्ष देखा जाता है, उस कार्य रूप द्रव्य को कारण-रूप द्रव्य से भिन्न ही मानना होगा।

सच्चासत् ।४।

**सूत्रार्थ**–सत्=कार्य-द्रव्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है, च=और असत् =उसको नष्ट होते हुए भी देखा जाता है।

**व्याख्या**—उत्पन्न होने वाला कार्य द्रव्य नेत्र से प्रत्यक्ष दिखाई देता है और उसको नष्ट होते हुए भी देखते हैं। इसलिए, यह भी मानना ठीक है कि कार्य-द्रव्य उत्पत्ति से पहिले अपनी सत्ता में विद्यमान नहीं था। इस अभाव के अतिरक्त एक प्रकार का अभाव और भी है, जैसे बकरी को देखकर कहे कि 'यह बकरी है कुत्ता नहीं तो इस प्रकार कहने में कुत्ते का अभाव हुआ। बकरी है कुत्ता नहीं हो सकती, वस्त्र वर्तन नहीं हो सकता और यह न होना सदा के लिए ही है अर्थात् बकरी कभी भी कुत्ते के रूप में नहीं बदल सकती इसलिए बकरी में कुत्ते का अभाव ही कहेंगे।

यच्चान्यदस्दतसत् ।५।

**सूत्रार्थ**—च=और, यत्=जो द्रव्य, अत:=इन सत् और असत् दोनों प्रकार से, अन्यत्=भिन्न प्रकार का और असत्=न होने वाला है, वह असत्=केवल असत् ही कहा जायेगा।

**व्याख्या**—कोई भी द्रव्य उत्पन्न होने पर सत् और उत्पन्न होने से पहिले असत् माना जाता है। तथा जिस द्रव्य का कभी अस्तिव नही पाया जाता, वह तो असत् है ही। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु नष्ट नहीं हुई, प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसका अभाव नहीं कह सकते। इसी प्रकार, जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती या नष्ट हो गई, वह भाव-हीन अर्थात् अस्तितत्र हीन कही जायेगी। क्योंकि, जो वस्तु है ही नहीं, उसका सद् कहना सिद्ध हो ही नहीं सकता।

## असीदिति भूतप्रत्यक्षाऽभावाद् भूतस्मृतेर्विरोध-प्रत्यक्षवत् ।६।

**सूत्रार्थ**—असत्—जिसका भाव न हो, इति=ऐसा ज्ञान, भूत प्रत्यक्ष-अभावात्=उत्पन्न पदार्थ के अभाव से, भूतस्मृतेः=होने वाले द्रव्य की याद बनी रहने से, विरोध प्रत्यक्षवत्—विरोधी प्रत्यक्ष के समान है।

व्याख्या—जैसे असत् का विरोधी सत् है, वैसे ही जो द्रव्य उत्पन्न होकर नष्ट हो जाय वह सत् का विरोधी असत् कहा जायेगा। क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, देखा हुआ होने से उसकी याद भी बनी रहेगी, फिर भी वह प्रत्यक्ष द्रव्य के विपरीत होने जैसा ही है। तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु देखी हो तो उसके नष्ट होने पर भी याद बनी रहती है, जैसे देहली चाँदनी चौक में घण्टा घर था, वहाँ के रहने वाले या बाहर के व्यक्ति भी जो वहाँ जाते हैं, उन सबको यह अनुभव है कि यहाँ घण्टा-घर था और ऐसी याद बनी रहने से यह प्रतीत होता है कि अब घण्टा-घर नहीं है जब घण्टा-घर नहीं है तो वह सत् के विरीत अर्थात् असत् पदार्थ रहा। 'प्रत्यक्षवत' पद का प्रयोग इसलिए हुआ हैं कि पहिले उस घण्टा-घर की सत्ता थी, अब नहीं हैं, इसलिए उसे सत् का विरोधी असत् या असत् के विरोधी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष के समान कहा है।

## तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ।७।

**सूत्रार्थ**—तथा=इसी प्रकार, अभावे=असत् होने में, च=भी भावप्रत्यक्षत्वात्=सत् के प्रत्यक्ष होने से विपरीत लक्षण का बोध हो जाना सम्भव है।

व्याख्या—अभाव [illegible] है, [illegible] नियम के अनुसार

ही उसका होना न होना बनता है। सत् प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु को कहते हैं और असत् में सत् के विपरीत लक्षण होंगे अर्थात् जो वस्तु दिखाई दे वह सत् है, तो जो वस्तु दिखाई न दे वह असत् ही कहीं जायेगी। जैसे धागा प्रत्यक्ष रूप में समाने हैं, वह नेत्र द्वारा देखा जा रहा है और जब वह नष्ट हो जाता है, तब नेत्रों से नहीं देखा जाता इसलिए वह पहिले तो प्रत्यक्ष था और बाद में अदृष्ट होने पर अप्रत्यक्ष हो गया। इससे सिद्ध हुआ कि सत्ता के विद्यमान रहने पर सत् और सत्ता के न रहने पर अर्थात् धागे के नष्ट हो जाने पर सत् का विपरीत लक्षण हो गया, इसलिए उसका असत् होना माना गया है।

**एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ।८।**

**सूत्रार्थ**–एतेन=इससे, अघटः=घड़े का न होना, अगोः=गौ का न होना, च=और, अधर्म=धर्म का न होना, व्याख्यातः=कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या—घड़े के गुण घड़े में ही होगे गौ में नहीं हो सकते। इसी प्रकार गौ के गुण भी घड़े में नहीं मिलेंगे जो घडा हैं, वह घड़ा रहेगा गौ है वह गौ रहेगी। इस प्रकार एक के धर्म दूसरे में न होने से 'अधर्म' पद का प्रयोग इस सूत्र में हुआ। गौ का अभाव घड़े में और घड़े का अभाव गौ में यह सामान्य रीति से ही जान लिया जाता है, इसकी पहचान के लिए किसी प्रकार के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी। प्रत्येक वस्तु नियत धर्म वाली है और अन्य के गुण उसमें आ नहीं सकते। इसलिए, उसके नियत लक्षण से ही यह जान लिया जाता है कि 'यह गौ है' अथवा 'यह घड़ा है' इसलिए प्रत्येक वस्तु को उसके नियत लक्षण में समझ लेना चाहिए।

**अभूतनास्तीत्यनर्थान्तरम् ।९।**

**सूत्रार्थ**—अभूत=जो उत्पन्न नहीं हुआ और न अस्ति=

जो नहीं है, इति=यह दोनों ही, अनर्थान्तरम्=परस्पर में विरोध नहीं, बल्कि एक जैसे ही हैं ।

व्याख्या—अभूत पदार्थ जो पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ या अब नहीं है अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गया और जिसका अस्तित्व अब नहीं है यह ज्ञान अभाव का ही बोध कराने वाला है इसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। 'अनर्थान्तरम्' कहकर अभूत और भूत के भिन्न-भिन्न होने वाले भाव का समाप्त कर दिया गया है। इससे सूत्र का अर्थ बनेगा कि जो वस्तु कभी न हुई हो और जिसके कभी होने की आशा भी न हो, उस वस्तु का अत्यन्त अभाव मानना चाहिए । साथ ही जो वस्तु उत्पन्न नहीं हुई और जो वस्तु है नहीं उन दोनों का अभिप्राय एक ही है । जो उत्पन्न नहीं हुई वह होगी ही कहाँ से अथवा जो नहीं है वह या तो उत्पन्न न होना अथवा नष्ट हो जाना यह दोनों दशायें उस वस्तु के अत्यन्त अभाव का ही ज्ञान कराती हैं। इसीसे इनको एक दूसरे के विपरीत लक्षण वाली न कहकर, समान होना ही माना गया है ।

## नास्ति घटोगेह इति, सतो घटस्य गेहसंसर्ग प्रतिषेधः ।१०।

सूत्रार्थ—गेहे=घर में, घटः=घड़ा, न अस्ति=नहीं है, इति=सम्बन्ध से, प्रतिषेधः=न होना समझना चाहिए ।

व्याख्या—घर में घड़ा नहीं रहा तो घर का और घड़े का संबन्ध भी समाप्त हो गया । घर में घड़ा था ऐसा कहने से जब घड़े का अस्तित्व था तब उसका सम्बन्ध भी घर से था, अब नहीं है तो उसका अत्यंत अभाव ही कहा जायेगा । सम्बन्ध तो तभी बनेगा जब वस्तु घर में रहेगी और वह नेत्र से दिखाई देगी । जो वस्तु नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं, कहीं छिपी हुई भी नहीं, उसका न होना ही मानना पड़ेगा ।

आत्मन्यात्ममनसो संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ।११।

**सूत्रार्थ**—आत्मनि=जीवात्मा में, आत्ममनसो=जीवात्मा और मन के, संयोग-विशेषात्=संयोग की विशेषता से आत्म प्रत्यक्षम्=आत्म-स्वरूप का ज्ञान होता है ।

व्याख्या—जीवात्मा में आत्मा और मन के विशेष योग से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । इसका तात्पर्य यह है कि एकाग्र मनसे आत्मा ज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करने वाले योगी आत्म साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं । जब तक मन एकाग्र नहीं होगा तब तक आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास में भी सफलता न मिल सकेगी । इसलिए आत्म-साक्षात्कार के लिए मन की एकाग्रता आवश्यक है और मन का एकाग्र होना विषयों के त्याग करने पर ही सम्भव है । विषयों में मन फँसा है तो अभ्यास करते रहने पर भी उसका एकाग्रकर सकना कठिन है क्यों कि मन चंचल होता है और वह बारम्बार विषयों की ओर दौड़ता है । इसलिए सूत्रकार मन को आत्म-चिन्तन में तल्लीन करने का भाव व्यक्त करते हुए मन का आत्मा से संयोग होने पर ही साक्षात्कार होने का उपदेश करते हैं । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा के साथ मन तल्लीन हो तो आत्म-साक्षात्कार हो सकता है । वैसे मन यह जानता है कि मेरा सम्बन्ध आत्मा से है, परन्तु अविद्या के कारण आत्मा के साथ की ओर न जाकर विषयों की ओर जाता है, इसलिए सर्व प्रथम अविद्या को नष्ट करने की चेष्टा करें, जिससे विवेक की उत्पत्ति होकर मन में एकाग्रता आ सके और उसका आत्मा से योग हो सके । इस सूत्र में विशेषात्' पद इसीलिए कहा है कि मन सामान्य तोर से तो विषयों में ही फँसा रहता है और जब वह विषयों को त्याग देता है, तब वह विशेष रूप से आत्मा के साथ युक्त हो जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कार की विशेष उपलब्धि होती है ।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ।१२।

**सूत्रार्थ**—तथा=इसी प्रकार, द्रव्यान्तरेषु=अन्य द्रव्यों में भी प्रत्यक्षम्=साक्षात् ज्ञान होता है।

व्याख्या—योग की सहायता से अन्य सूक्ष्म द्रव्यों का भी ज्ञान हो जाता है। क्योंकि सूक्ष्म द्रव्य-परमाणु आदि नेत्र से दिखाई नहीं देते, परन्तु योग की शक्ति इतनी प्रबल है कि उसके द्वारा उनका ठीक अनुमान हो जाता हैं। तात्पर्य यह है कि मन को एकाग्र करके जिस विषय के अन्वेषण में लगाया जाय, वह विषय ज्ञान-गम्य हो जाता है। साधारण रूप से भी यह देखा जाता है कि जो कार्य मनोयोग पूर्वक किया जाय, उसके पूर्ण होने में सफलता मिल जाती है और जो कार्य बिना मन के किया जाता है, वह कभी सफल नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि लौकिक कार्यों में और आध्यात्मिक कर्मों में मन का योग हो तभी सफलता मिल सकती हैं, अन्यथा नहीं मिल सकती।

असमाहितान्तःकरणाःउपसंहृतसमाधयस्तेषाञ्च ।१३।

**सूत्रार्थ**—असमाहितान्तकरणः=जो स्थिर अन्तःकरण वाले नहीं है, च=और, उपसंहृत समाधयः=जो समाधि से विरत हो गये हैं, तेषाम्=वे योग-भ्रष्ट पुरुष बन्धन में पड़े रहते हैं।

**व्याख्या**—जिन योगियों का मन एकाग्र नहीं रह पाता और मन के एकाग्र न रहने से समाधि भी बार-बार भङ्ग हो जाती है, तब अपने को समाधि के योग्य न मानकर वे समाधि को त्याग ही कर बैठते है, ऐसे पुरुषों को योग-भ्रष्ट माना गया है। वे योग भ्रष्ट पुरुष जन्म-मरण के सांसारिक चक्र में पड़े हुए अपने प्रारब्ध कर्म का भोग भोगते रहते हैं। अथवा जो पुरुष समाधि के प्रभाव में अपने आत्मा आदि को शुद्ध कर चुके हैं और उन्होंने समाधि को छोड़ दिया है तो उनके मन की स्थिरता नहीं रह पाती इसलिए उन्हें आत्म-ज्ञान तो होता नहीं। इस

दशा में उन्हें प्रारब्ध कर्म अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों को भोगना पड़ता है और उनका जन्म-मरण नहीं रुकता। क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का क्षय आत्म-ज्ञान होने पर ही हो सकता है और तभी जीवात्मा का फल-भोग नष्ट होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए मन के स्थिर रहने को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानना चाहिए।

## तत्समवायात् कर्मगुणेषु ।१४।

**सूत्रार्थ**—तत्समावायात्=जिन द्रव्यों का साक्षात् होता हैं, उनके समवाय सम्बन्ध से, कर्मगुणेषु=उन द्रव्यों के कर्मो और गुणों का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से हो सकता है।

व्याख्या—योगी को प्रत्येक सूक्ष्म द्रव्य के गुण, कर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है, क्योंकि उसका उन द्रव्वों से समवाय सम्वन्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि किसी विषय में मन का संयोग होने से, वह विषय प्रत्यक्ष हो जाता है। मन के संयोग के विना ज्ञान की उप-लब्धि सम्भव नहीं, जिस द्रव्य के गुण कर्म का ज्ञान करना आवश्यक हो' वह मन के समवाय सम्वन्ध अर्थात् मेल से ही होता है। सूक्ष्म-द्रव्यों का ज्ञान योगियों को हाना इसलिए माना है कि उनका मन एकाग्र रहता है और वे जिस विषय का ज्ञान करना अभीष्ट समझते हैं उस विषय के चिन्तन में अपने को तल्लीन कर देते हैं। यही ज्ञान-प्राप्ति में सफलता का एक कारण है, जो योगियों को ही सुलभ हो सकता है।

## आत्मसमवायादात्मगुणेषु ।१५।

**सूत्रार्थ**—आत्मसमवायात्=आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध होने से, आत्मगुणेषु=आत्मा के चेतन स्वरूप होने वाले गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार होता है।

**व्याख्या**—जिस प्रकार मन के संयोग से सूक्ष्म द्रव्यों के गुण, कर्म का ज्ञान होना सुलभ है वैसे ही, मन का आत्मा के साथ संयोग होने

पर आत्मा के गुणों का ज्ञान होता है, आत्मा का गुण है उसका चेतन होना। मन जब आत्म-चिन्तन में तल्लीन होता है, तभी आत्मा के चेतन स्वरूप का साक्षात्कार कर पाता है। यह आत्म स्वरूप का साक्षात्कार होना ही मोक्ष-प्राप्ति का अन्तिम साधन है। इसी को परमसिद्ध माना गया है। जिन्होंने आत्मा से साक्षात्कार कर लिया, वे ही मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी है। उनका मुक्त अवस्था में रहना कहा गया है। उनके प्रारब्ध कर्म नष्ट होने से, फल भोग का भी क्षय हो जाता है, इसलिए उन्हें पुनः संसार में नहीं आना होता। इसलिए योगीजन आत्म ज्ञान की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हैं। मोक्ष की कामना करने वाले पुरुषों के लिए यही एक मार्ग है। इससे आत्मा के साथ मनका समवाय सम्बन्ध अर्थात् संयोग होने से आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष होना सिद्ध होता है।

॥ नवमोऽध्यायः-प्रथमाह्निकम् समाप्तम् ॥

# नवमोऽध्यायः-द्वितीयाह्निकम्

अस्येद कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि
चेति लैङ्गिकम् ।१।

**सूत्रार्थ**—अस्य=इसका इदम्=यह, कार्यम्=कार्य, कारणम्=कारण, संयोगि=संयोगी, विरोधि=विरोधी है, च=और, समवायि=सदा साथ रहने वाला है, इति=ऐसा ज्ञान, लैङ्गिकम्=लक्षण से होता है।



**व्याख्या**—कार्य को देखकर कारण का ज्ञान होता है और कारण से

कार्य को जाना जाता है। संयोग से संयोगी का और बिरोधी से विरोधी का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार समवाय को देखकर समबायि का ज्ञान होता है। अर्थात् इस कार्य का यह कारण है उसका यह कार्य है-यह इसका संयोगी है और यह इसका विरोधी है तथा यह समवायि है" इस प्रकार का ज्ञान लक्षण देखकर होता है। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहा गया है। अनुमान के लिए व्याप्ति को कारण मानते हैं— जैसे—धुँआ देखकर ऐसा अनुमान होता है कि यहाँ अग्नि होगी। क्यों कि धुँआ है तो अग्नि अवश्य होगी। अग्नि के बिना धुँआ हो हीं नहीं सकता। जब तक किसी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध न हो, तब तक व्याप्ति नहीं बनती। कार्य-कारण सम्बन्ध में व्याप्ति का होना सिद्ध होता है। धुँए का कारण अग्नि है इस व्याप्ति सम्बन्ध से ही धुँए को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। पुत्र को देखकर भी पिता के होने का अनुमान होता है, क्योंकि पुत्र की उत्पत्ति पिता से ही होगी संयोग से भी सम्बन्ध का ज्ञान होता है, जैसे शरीर और त्वचा का संयोग। शरीर है तो उसके साथ ही त्वचा होगी। गर्म जल को देखकर यह अनुमान कि जल अग्नि पर गर्म हुआ होगा, इसलिए यहाँ अग्नि भी होगी। विरोधी ज्ञान इस प्रकार होता है कि सर्प को झाड़ी की तरफ फुङ्कारते देखकर यह अनुमान हो कि यहाँ नेवला ही होगा, क्योंकि सर्प का विरोधी नेवला है, परन्तु इस प्रकार का ज्ञान तभी हो सकता है जब लक्षण का पूरा ज्ञान हो। अधूरे ज्ञान से भ्रम हो सकता है और भ्रम होने पर अनुमान-प्रमाण की सिद्ध नहीं हो सकती और व्याप्ति-सम्बन्ध के ठीक न होने पर भी अनुमान नहीं बनता। जैसे अग्नि को देखकर यह अनुमान कर लिया जाय कि यहाँ धुँआ अवश्य होगा तो वह अनुमान मिथ्या सिद्ध होगा, क्योंकि, अग्नि बिना धुँआँ वाला भी होता है। इसलिए धुँए को देखकर अग्नि का अनुमान तो कर सकते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि लक्षण का सही ज्ञान ही अनुमान का ठीक ज्ञान करा सकता है।

अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति ।२।

**सूत्रार्थ**—अस्य = इसका, इदम्=यह लक्षण है, च=और, कार्य-कारण सम्बन्ध=कार्य-कारण के सम्बन्ध वाला ज्ञान, अवयवात्=अवयव रूप होने से, भवति=होता है।

व्याख्या—इस वस्तु का यह लक्षण है यह बात कार्य और कारण के सम्बन्ध से जानी जाती है। धुँए का कारण अग्नि है, इस बात का ज्ञान होने से धुएँ को देखकर यह अनुमान होता है कि अग्नि से उत्पन्न हुआ है। साथ ही धुँए को देखकर पहचान लेना कि यह धुँआ ही है, उसके स्वरूप का ज्ञान होने पर निर्भर है। यदि धुँए का रूप नहीं मालूम तो किस प्रकार पहचाना जायेगा कि यह धूँआ है या धूल आदि कोई अन्य पदार्थ है। सूत्र में अवयव से अवयवी की पहचान करने का निर्देश किया गया है, जैसे लोहे का कार्य करता है वह लोहार है या पकाने का कार्य करता है, वह पकाने वाला कहा जायेगा। इस प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। अनुमान दो प्रकार का माना गया है—एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ। स्वार्थ अनुमान उसे कहते हैं जिसकी अपने ही व्याप्ति और गुण से परीक्षा हो सके तथा परार्थ अनुमान वह है जो अन्य की प्रेरणा वाले भाग्य से उत्पन्न व्याप्ति का ज्ञान होने से होता है। न्याय में पाँच अङ्ग अनुमान के लिए माने गये हैं-एक प्रतिज्ञा, दूसरा हेतु, तीसरा, उदाहरण, चौथा अवयवी और पाँचवा निगमन। प्रतिज्ञा जैसे शब्द अनित्य है इसे प्रतिज्ञा कहा गया है क्योंकि दृढ़ रूप में उसे अनित्य कह दिया गया। अब, इस प्रतिज्ञा का हेतु भी होना चाहिए, क्योंकि शंका होती है कि शब्द को अनित्य क्यों कहा? उसके हेतु बतलाया कि शब्द उत्पन्न होता है। इस पर कोई कहे कि शब्द उत्पन्न होता है, इस बात का उदाहरण देकर समझाओ तो कहा कि जैसे घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है और उसका टूट कर नष्ट होना प्रत्यक्ष देखा जाता है और उत्पन्न होने वाली जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी नाशवान्

है । इसीलिए शब्द उत्पन्न होने वाला होने से अनित्य कहा गया । हेतु को प्रतिज्ञा सिद्ध करना अवयवी कहा जायेगा, जैसे जो वस्तु उत्पन्न होगी, वह अवयव वाली होगी और अवयव वाली वस्तु नित्य ही हो नहीं सकती । साथ ही जो वस्तु उत्पन्न होगी वह नष्ट भी अवश्य होगी। इस प्रकार, अवयवों से अनुमान करने से, इसे अवयवी कहा गया। पाँचवा निगमन वह है जिसमें प्रतिज्ञा का हेतु बताकर प्रतिज्ञा को सिद्ध करने का निर्णय देते हैं, जैसे शब्द उत्पन्न होने से अनित्य है—यह अन्तिम निर्णय हो गया । इस प्रकार अवयवों से अनुमान करने को ही परार्थ अनुमान कहते हैं।

**सूत्रार्थ**—एतेन=इस प्रकार कहने से, शब्दम्=शब्द सम्बन्धी ज्ञान भी, व्याख्यातम्=कह दिया समझना चाहिए।

**व्याख्या**—जिस प्रकार लक्षण का ज्ञान कहा गया है, उसी प्रकार शब्द का ज्ञान समझना चाहिये । अर्थात् शब्द के द्वारा जो अर्थ आदि का ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी अनुमान के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। जैसे अनुमान व्याप्ति-सम्बन्ध से होता है, व्याप्ति के बिना नहीं हो सकता वैसे ही शब्द का ज्ञान भी इसके अर्थ को जानने पर ही हो सकता है। शब्द का अर्थ जाने बिना उसका तात्पर्य ही नहीं समझा जा सकता । जैसे अनुमान के दो भेद कहे गये हैं, वैसे ही शब्द भी दो प्रकार का है । एक तो शब्द में अर्थ बताने वाली शक्ति रहने से अर्थ समझा जाता है और दूसरे लक्षण और व्यंजन आदि से भी अर्थ माना जा सकता है । लक्षण से तात्पर्य यह है कि किसी किसी विषय के वर्णन को देखकर उसमें आये हुए शब्द का विषय के अनुकूल अर्थ किया जाता हैं। जैसे रेलगाड़ी में चलते हुए किसी स्टेशन पर गाड़ी ठहरे और कहदें कानपुर आ गया' तो समझना होगा कि स्टेशन तो चलता नहीं, गाड़ी चलती है कानपुर कहीं से नहीं आया, बल्कि गाड़ी कानपुर के स्टेशन पर आ गई । इसलिये, 'कानपुर आगया' का अर्थ विषय के अनुकूल यही बनेगा कि गाड़ीकानपुरमें

आ गई। इसी प्रकार, कोई व्यक्ति धुँए को देख कहे कि यहाँ अग्नि है, जहाँ धूँआ होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी, इस व्याप्ति सम्बन्ध से, तो यह कहना ठीक हो सकता है, परन्तु शब्द का सही अर्थ 'यहाँ अग्नि है' ऐसा नहीं हो सकता, बल्कि 'धुँआ हैं' होगा। परन्तु जानकार व्यक्ति 'यहाँ अग्नि है,' ऐसा कहने से, यह समझ लेगा। कि इसने धुँए को देखकर ही इस प्रकार कहा है। अन्यथा, धुँए को देखकर अग्नि हैं' ऐसा कहना अशुद्ध भी कहा जा सकता है, क्योंकि, इंजन से निकला हुआ धुँआ तो कुछ देर तक व्याप्त रहता है, परन्तु इंजन दूर चला जाता हैं इससे सिद्ध हुआ कि शब्द का अर्थ विषय के वर्णन से भी समझा जा सकता है तथा शब्दों का सामान्य अर्थ उनके यथार्थ ज्ञान से होता है, जिन्हें अर्थ का ज्ञान नहीं, वे शब्द के तात्पर्य समझने में समर्थ नहीं हो सकते।

**हेतुरुपदेशो लिंगम् प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ।३।**

**सूत्रार्थ**—हेतुः=हेतु, उपदेश,:=उपदेश, लिङ्गम्=लक्षण, प्रणाणम्,=प्रमाण और, करणश्च=करण, इति=यह, अनुअर्थान्तरम्= समान अर्थ का ज्ञान कराने वाले हैं।

**व्याख्या**—हेतु कारण सूचक है अर्थात् 'अमुक कार्य किस हेतु हुआ ? ऐसा प्रश्न करने से ज्ञात हुआ कि हेतु का तात्पर्य कारण से हैं। जिस कारण से कार्य किया जाय उस कारण को हेतु कहते हैं। जिससे अर्थ का ग्रहण हो सके वह उपदेश है। जैसे किसी से कहे कि 'अन्न से भोजन बनेगा' अथवा घर को स्वच्छ रखना आवश्यक हैं।' इन वाक्यों का अर्थ मनुष्य के लिए हितकारी तो है ही साथ ही शिक्षाप्रद होने से भी उपदेश ही है। इस प्रकार जिस शब्द से मतलब सिद्ध होता है वह उपदेश है जिस चिह्न अथवा आकार प्रकार से किसी वस्तु की पहचान हो सके उसे लिङ्ग अर्थात् लक्षण कहते हैं। जैसे गाय सींग वाली होती है, तो सींग अन्य पशुओं के भी हैं। पूँछ वाली होती है तो पूँछ अन्य पशुओं के भी होती हैं, उसकी पूँछ के

अन्त में वाल होते हैं, तो भैंस की पूँछ भी वैसी ही होती है, फिर कहा कि गाय के गले के नीचे माँस लटकता रहता है तो माँस बैल के भी लटकता है, फिर कहा कि गाय के थन होते हैं, बैल के थन नहीं होते। इस प्रकार पूँछ के अन्त में बाल, सींग गले में लटकता हुआ माँस, कुब्ज और थन होना यह गाय के लक्षण हैं। लक्षण आदि का यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण रूप हैं। इस प्रकार उदाहरण सहित सिद्ध हुए करण अर्थात् कारण को अनुमान कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हेतु उपदेश, लिङ्ग, प्रमाण और करण के द्वारा शब्द का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

अस्येदमितिबुद्ध्यपेक्षितत्वात् ।५।

सूत्रार्थ—अस्य=इसका, इदम्=यह लक्षण है, इति=ऐसा ज्ञान बुद्धि-अपेक्षित्वात् बुद्धि की अपेक्षा से होता हैं।

व्याख्या—इस कार्य का यह कारण है अथवा इस वस्तु का यह लक्षण है, इस प्रकार की जानकारी बुद्धि से होती है। क्योंकि बुद्धि ही पदार्थ का ज्ञान कराने वाली है। जैसे किसी बालक से कहें कि यह गाय है, वह ऊँट है, यह घर है, वह तोता है इत्यादि और वह बालक उस वस्तु को देखकर समझ ले कि इसे गाय कहते हैं, इसे ऊँट कहते हैं। यह ज्ञान बालक की बुद्धि ही ग्रहण करती है। यह देखा जाता है कि अनेक मन्द बुद्धि वाले पुरुष जिस किसी विषय को शीघ्र नहीं समझ पाते और तीक्ष्ण बुद्धि वाले पुरुष उसी विषय को शीघ्र समझ लेते हैं। इसमें बुद्धि की अपेक्षा से ही ज्ञान का उत्पन्न होना सिद्ध होता हैं। यदि कहें कि 'गाय है' ऐसा संकेत होने से ही गाय का होना समझ में आ जाता हैं तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि गाय के आकार-प्रकार और सभी लक्षणों को बुद्धि जब ठीक प्रकार से ग्रहण कर लेती है तभी समझ में आता है कि यह गाय है, अन्यथा बहुत से बालकों को देखा है कि वे सभी पशुओं को गाय बताने लगते है। यह उनकी बुद्धि की कमजोरी ही है, जब तक उनकी बुद्धि ठीक प्रकार से गाय का या

भैंस आदि का अन्तर नहीं समझ लेती तब तक सभी पशुओं में गाय का भ्रम रहता है और ठीक प्रकार समझने पर नहीं रहता। कभ-कभी गाय-बैल के झुण्ड को दूर से देखकर यह पहचानना कठिन होता हैं कि गाय कौन-सी है और बैल कौन-सा है। उसका कारण यही है कि दूर होने के कारण बुद्धि गाय या बैल के विशेष चिन्ह थन आदि को ग्रहण नहीं कर पाती इसलिये यहीं सिद्ध होता हैं कि बुद्धि की अपेक्षा से ही विषयों का यथार्थ ज्ञान हो पाता है।

**आत्ममनसो: संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ।६।**

**सूत्रार्थ**—आत्ममनसोः—आत्मा और मन के, संयोग-विशेषात्= संयोग की विशेषता से, च=और, संस्कारात्=संस्कार से, स्मृतिः= याद बनी रहती है।

व्याख्या—देखी हुई वस्तु को मन आत्मा को पहुँचाता है अर्थात् आत्मा मन के द्वारा ही सब वस्तुओं को जानता है और मन के संयोग में और वस्तु के आकार-प्रकार आदि के अनुभव से, वह उस वस्तु को याद रखता है। इसे यों भी कहते हैं कि आत्मा के साथ मन का विशेष योग रहता है और संस्कार-सम्बन्ध होता है उससे स्मृति की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वस्तु का सम्बन्ध नेत्र से हुआ और नेत्र ने मन को वह वस्तु समर्पित की तथा मन ने उसे आत्मा को समर्पित कर दिया। इस प्रकार आत्मा ने उस विषय को ग्रहण करके पुनः मन को लौटा, दिया। जैसे कोई राजा किसी कागजात को देखकर उसे सुरक्षित रखने के लिए अपने मन्त्री को लौटा देता है और आवश्यकता होने पर उसे फिर कभी पेश करने को कहता है, तब वह मन्त्री उन कागजात को माँगे जाने पर राजा के सामने पेश करता है। वैसे ही शरीर का राजा आत्मा अपने मन्त्री मन को लौटाये हुए विषय को आवश्यकता होने पर चाहे जब ले लेता है—इसी को याद कहते हैं। क्योंकि, मन ही उस

आवश्यकता होती है तब उसे याद दिला देता है। अब समझना चाहिये कि जिस वस्तु अथवा दृश्य का अनुभव ठीक नहीं हुआ है उसका संस्कार ठीक स्मृति नहीं होने देगा, क्योंकि जब वस्तु या दृश्य का यथार्थ ज्ञान ही न होगा तो उसका सही संस्कार ही कैसे जगेगा ? इसे मानना होगा कि संस्कार ही यथार्थ ज्ञान में सहायक है और स्मृति भी संस्कार के विपरीत कभी नहीं हो सकती। किसी देखी हुई वस्तु को याद करने पर आत्मा का मन के साथ जो संयोग है उसे संयोग की विशेषता समझनी चाहिए। क्योंकि विषयों का आत्मा के लिए निवेदन करना तो मन का सामान्य कार्य है, ऐसा तो वह निरन्तर करता रहता है। परन्तु किसी पिछले दृश्य को याद दिलाना—यह मन का विशेष कार्य मानना होगा। अनेक बार, इच्छा से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा जिस संस्कार की उत्पत्ति होती है उसके दुबारा याद आने के कारण उसे स्मृति कहते हैं। परन्तु, योगी के लिए स्मृति भी प्रत्यक्ष के समान ही है। वे अपनी योग शक्ति से अतीत के दृश्यों को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होते हैं। जिन पर उनकी कृपा हो जाती है, उन्हें योगाभ्यास की ओर आकर्षित करने के लिए उनके अतीत के धार्मिक दृश्यों को साक्षात् दिखलाकर संसार की असारता का ज्ञान करा देते हैं। हमारे मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने, न देखे हुए विषयों को भी लिपिबद्ध कर परम ज्ञान के भण्डार-रूप वेदों का आविर्भाव किया। यह सब आत्मा और मन के संयोग और संस्कार की सहायता से ही हो सका। इस सबसे यहाँ सिद्ध होता है कि मन के योग से आत्मा में उत्पन्न हुआ संस्कार ही स्मृति का कारण है और मनोयोगपूर्वक उत्पन्न हुआ ज्ञान ही आर्ष ज्ञान कहा गया है।

## तथा स्वप्नः ।७।

**सूत्रार्थ**—तथा=इसी प्रकार (आत्मा और मन का संयोग होने पर और संस्कार के द्वारा) स्वप्नः=स्वप्न का होना समझना चाहिए।

व्याख्या—जैसे संस्कार के द्वारा तथा मन और आत्मा का विशेष संयोग होने पर स्मृति का होना कहा गया है, वैसे ही अर्थात् आत्मा को मन के साथ विशेष योग और संस्कार से स्वप्न की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इन्द्रियों को बाह्य विषयों को ग्रहण कर छोड़ देने और मन को भी बाह्य विषयों को छोड़कर अन्तःस्थ हो जाने पर मन और इन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही स्वप्न है। अर्थात् सोते हुए को जो स्वप्न दिखाई देते हैं, वह देखे हुए विषयों को मन और इन्द्रियों द्वारा छोड़ देने पर, परस्पर मिलने और आत्मा से सम्पर्क करने का परिणाम हैं। विद्वानों ने स्वप्न को तीन प्रकार का माना है–(१) संस्कार विशेष से उत्पन्न (२) पुराणादि के सुनने से उत्पन्न और, (३) पूर्व जन्म के कर्मफल से उत्पन्न। अब संस्कार विशेष से उत्पन्न स्वप्न का निरूपण करते हैं। जिस कार्य को देखते, विचारते, अनुभव करते हुए निद्रा आ जाय, वैसे ही दृश्य विचार या अनुभव से सम्बन्धित दृश्य उपस्थित हो जाते हैं, उनमें ऐसा नहीं कि सब बातें ज्यों की त्यों दिखाई दे बल्कि उसका रूपान्तर फेर-बदल अथवा उसका उल्टा भी दिखाई दें सकता है। जिस विषय का मन पर अधिक संस्कार होगा वह विषय अधिकता से होगा और कम संस्कार वाला विषय न्यूनता से दिखाई देगा। दूसरी प्रकार का स्वप्न पुराण शास्त्र, कहानी, किस्से चरित्र आदि सुनने, अभिनय आदि देखने या अन्य प्रकार से ग्रहण करने योग्य विषय के संस्कार से मन के प्रभावित होने से दिखाई देता है। उनमें शुद्धि आदि का प्रत्यक्ष देखना, समुद्र तट पर जाना, पर्वत पर चढ़ना, देव-दर्शन करना, पृथिवी पर भ्रमण आदि अथवा ऐसे ही अन्य दृश्य उपस्थित हो सकते हैं। तीसरे प्रकार का स्वप्न वह है, जिससे भयानके दृश्य, कोई मारने को दौड़ता है, कोई उठाकर फेंकता है, कोई गाली देता है, गधे की सवारी करता है, उत्सव में भाग लेता है राजा बन जाता है, ऐश्वर्य-सुख भोगता है इत्यादि दृश्य वाले स्वप्न पूर्व जन्म के शुभ-अशुभ फल के रूप में दिखाई देते हैं। शुभ कर्म वालों को अच्छे और अशुभ-कर्म वालों को बुरे अथवा भयानक स्वप्न होते हैं।

अनेक बार देखा जा सकता है कि स्वप्न में जो बात दिखाई देती है, वह जागने पर सत्य सिद्ध हो जाती है। इसलिए अनेक विद्वान स्वप्नों को भविष्य की सूचना देने वाले भी कहते हैं। इन भविष्य सूचक स्वप्नों में शुभ परिणाम वाले और अशुभ परिणाम वाले, इस प्रकार दो भेद होते हैं। पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप में उन संस्कारों का जागृत होकर मन को प्रभावित करना ही इन स्वप्नों का कारण कहा जा सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि स्वप्नों की उत्पत्ति में भी मन और संस्कार का आत्मा से योग ही प्रमुख है।

## स्वप्नान्तिकम् ।८।

**सूत्रार्थ**—स्वप्नान्तिकम्=एक स्वप्न दूसरे स्वप्न की उत्पत्ति भी उसी पर आधारित है।

व्याख्या—जैसे आत्मा और मन के असामान्य संयोग के स्वप्न की उत्पत्ति कही गई है, वैसे ही एक स्वप्न में दूसरे स्वप्न का उत्पन्न हो जाना भी आत्मा, मन और संस्कार से ही होता है। इसमें भेद इतना ही है कि स्वप्न तो पहले अनुभव में आये हुए संस्कारों के प्रभाव से होता है, परन्तु स्वप्न की उत्पत्ति का कारण तत्कालीन अनुभव का संस्कार है। अथवा यों कहना चाहिए कि बीते हुए अनुभूत विषयों की याद से स्वप्न उत्पन्न होता है और उस अनुभूति विषयों में दूसरे अनुभूत विषयों की छाया का समावेश होना स्वप्नान्तिक अर्थात् स्वप्न की उत्पत्ति होती है। जैसे अभी देखा कि राज-दरबार में खड़े हैं, वहाँ का दृश्य देखते-देखते जंगल का दृश्य देखने लगे और वह दृश्य भी बदल गया एक सुन्दर शहर में पहुँच गये। यह एक स्वप्न में दूसरे स्वप्न का उत्पन्न होना ही है। कभी तो स्वप्न में ही ऐसा ज्ञान होता है कि हमें जो दिखाई दे रहा है वह स्वप्न है स्वप्न देखने वाला स्वप्न में ही यह अनुभव करे कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ—यह वास्तव में स्वप्न में ही स्वप्न मानना

होगा। इसमें, मन पर ज्ञान वस्तुओं का अधिक प्रभाव रहता है और आत्म निद्रा से कम प्रभावित रहता है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि स्वप्न की उत्पत्ति तो मन और संस्कार के आत्मा के साथ संयुक्त होने पर होती है, साथ ही स्वप्न की उत्पत्ति का कारण भी यही है।

धर्माच्च ।८।

**सूत्रार्थ**—च=और, धर्मात्=धर्म से भी स्वप्न का उत्पन्न होगा कहा गया समझना चाहिए।

**व्याख्या**—धर्म-अधर्म से भी स्वप्न की उत्पत्ति हो सकती है। क्योंकि अपने द्वारा किये कर्मों का फल-भोग तो आवश्यक है ही, वह किसी भी रूप में प्राप्त हो सकता है। स्वप्न भी फल-भोग का एक साधन समझा जा सकता है। क्योंकि स्वप्न में बुरे दृश्य देखकर दुःखी और अच्छे स्वप्न देखकर सुखी होना निश्चित है। जहाँ दुःख होता है, वहाँ यही मानना होगा कि आत्मा अपने अशुभ पूर्व कर्म का फल भोग रहा है और सुख होने से यह मान्यता होती है कि पुण्य कृति अर्थात् धार्मिक कर्मों के फल-रूप में सुख मिल रहा है। स्वप्न में भी जिस सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, वह कर्म फल का आंशिक भोग ही है। यदि कहें कि स्वप्न में दुःख-सुख की प्राप्ति का कारण धर्म नहीं, अनुभूति ही होगी, क्योंकि जो बात अनुभव में आती है उसे स्वप्न रूप में देखा जाता है, स्वप्न में मार पड़ने से चोट तो लगती नहीं, यदि भूखे को स्वप्न में भोजन करा दे तो उसका पेट कभी नहीं भर सकता। जागने पर उसकी भूख कम नहीं होगी तो कैसे माने कि उसका कारण धर्म ही होगा ? इसका समाधान करते हैं कि जिस समय स्वप्न में मार पड़ती है, उस समय तो मार का अनुभव होता ही है, भयानक स्वप्न से भारी डर लगता है, किसी के द्वारा ऊपर से गिराये जाने पर गिरने का अनुभव भी होता है, भोजन मिलने पर जल पीने से तृप्ति का भी

अनुभव होता है, चाहे वह अनुभव यथार्थ न हो, तो भी उस समय तो प्राणी को सुख-दुःख की प्रतीत होती है। अब इस बात को समझाते हैं कि स्वप्न पर धर्म-अधर्म का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है? जो व्यक्ति धार्मिक विचार वाले, शुद्ध, भावना, पवित्र आचरण और सीमित खान-पान वाले हैं उन्हें बुरे स्वप्न दिखाई नहीं देते, वे सदा अच्छे स्वप्न ही देखते हैं। इससे विपरीत अर्थात् बुरे आचरण वाले पापी पुरुषों को अच्छे स्वप्न कभी भी दिखाई नहीं देते, वे जब भी स्वप्न देखते हैं बुरे स्वप्न देखते भी हों तो या बुरे आचरण वाले व्यक्ति कभी कदा बुरे स्वप्न देखते भी हों तो या बुरे आचरण वाले को कभी कदा अच्छे स्वप्न दिखाई देते हैं तो उसका कारण उनके पूर्व जन्म का संस्कार ही हो सकता है। जो पूर्व जन्म में या इस जन्म में भी कभी भूल से या जानकर ही कोई बुरा कार्य कर बैठे हों और बाद में अच्छे आचरण वाले हो गये हों तो उन्हें कभी-कभी बुरे स्वप्न भी दिखाई दे सकते हैं। इसी प्रकार पाप कर्म करने वालों को, पूर्व शुभ कर्मों के प्रभाव से अच्छे स्वप्नों का दिखाई देना सम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वप्न के शुभ या अशुभ रूप में दिखाई देने में धर्म-अधर्म भी एक कारण है।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ।१०।

**सूत्रार्थ**—इन्द्रियदोषात्=इन्द्रिय के दूषित होने से, च=और, संस्कार दोषात्=संस्कार के दूषित होने से, अविद्या=अविद्या अर्थात् अधर्म ही समझना चाहिए।

व्याख्या—इन्द्रिय का दूषित होना अर्थात् इन्द्रिय का अपने यथार्थ विषय को ग्रहण न करना और संस्कार का दूषित होना अर्थात् कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म मानना अथवा दृश्य-भ्रम होना आदि कार्य अविद्या के कारण ही होते हैं इनमें इन्द्रिय-दोष वह है जिसमें या तो इन्द्रिय बेकार हो जाय अथवा जिस विषय को ग्रहण करता है, उसे उसके यथार्थ रूप में ग्रहण न करके अन्य रूप में ग्रहण करे। जैसे अंधकार में रस्सी को सर्प रूप में देखना। यह दृष्टि को दोष हुआ और संस्कार का

दोष वह है जैसे कि संखिया आदि विष को मारक माना गया है, इसके सेवन करने से साधारण मनुष्य आदि की मृत्यु हो सकती है। परन्तु बहुत से व्यक्ति संखिया और अफीम आदि का दैनिक सेवन करते है। यह उनका विरुद्ध संस्कार ही हुआ। इस प्रकार इन्द्रियों के दूषित होने से और विरुद्ध संस्कार से, विरुद्ध कर्म की उत्पत्ति मानी जाती है। जैसे संखिया मारक है, परन्तु जो उसे सेवन करने के अभ्यासी है, उनके लिए वही जीवन प्राण है तो यह विरुद्ध-धर्म हुआ। कुछ का कुछ दिखाई देना या इन्द्रियों का अपने-अपने कार्य से विरत हो जाना यह भी विरुद्ध धर्म हुआ क्योंकि इन्द्रियों का वेकार हो जाना, जैसे नेत्र से दिखाई न देना, हाथ-पांवों का न चलना, गले से न बोल सकना, कान से सुनाई न देना, यह सब रोग आदि की उत्पत्ति के कारण होता है और रोग की उत्पत्ति उचित आहार-विहार के न होने से होती है तथा उचित आहार-विहार का न रहना अविद्या अर्थात् अज्ञान के ही कारण होता है। कुछ का कुछ दिखाई न देना भी अज्ञान का ही विषय है और संस्कार में दोष भी अज्ञान से ही सम्भव हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय और संस्कार इनके दूषित होने का कारण अविद्या ही है।

तद्दुष्टज्ञानम् ।११।

सूत्रार्थ—तद्=वह अविद्या, दुष्टज्ञानम्=दूषित ज्ञान ज्ञान अर्थात् अज्ञान कही जाती हैं।

व्याख्या—ज्ञान के दूषित हो जाने को ही अविद्या कहते हैं। यदि कहें कि ज्ञान तो ज्ञान ही है, वह दूषित कैसे होगा ? तो इसका समाधान यह है कि जो लोग, किसी के मरने पर उसका मृतक संस्कार करने जाते हैं, वे यह जानते हैं कि अन्त में सब की यही गति होनी है अर्थात् सबको मरना हैं। ऐसा जानते हुए भी झूठ-सच बोलते और अधर्म कर्मद्वारा धनोपार्जन आदि का कार्य करते रहते है। ऐसे कार्यों को करते हुए भूल जाते हैं कि हमको भी एक दिन यह संसार छोड़ना है,

फिर अधर्म के कार्यों को क्यों करें ?। इसे ज्ञान का दूषित होना ही कहेंगे। संसार को असार जानते हुए भी विषय-भोगों में फँसे रहना और मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना, यह ज्ञान का दूषित होना ही सिद्ध करता है। इसलिए सूत्रकार ने दूषित ज्ञान को अविद्या कहा है।

अदुष्टं विद्या ।१२।

**सूत्रार्थ**—अदुष्टम्=जिस ज्ञान से दोष नहीं है, वह ज्ञान विद्या=विद्या कहा जाता हैं।

व्याख्या—जो ज्ञान दोष-रहित अर्थात् निर्मल है, वही विद्या है। अर्थात् यथार्थ ज्ञान हो और उसके अनुसार ही आचरण करे वहीं विद्या कही जाती है। विभिन्न मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों में भी जो ज्ञान वेद-सम्मत है वह यथार्थ ज्ञान है और वेद-विरुद्ध मान्यतायें मनमानी होने के कारण कल्पित तथा त्याज्य हैं, वह अविद्या से उत्पन्न समझनी चाहिए। इसी प्रकार जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना निर्मल ज्ञान माना गया है। शरीर और आत्मा के भेद को यथार्थ रूप में जानना और संसार को असार मानकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करना भी 'विद्या' अर्थात् शुद्ध ज्ञान ही समझना चाहिए।

आर्षसिद्ध-दर्शनं च धर्मेभ्यः ।१३।

**सूत्रार्थ**—आर्षम्=ऋषियों के उपदेश, च=और, सिद्ध=दर्शनम्=वेद सम्मत पदार्थों का देखना अथवा वेद आदि शास्त्रों का देखना धर्मेभ्यः—धर्म से सिद्ध होता है।

व्याख्या—मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों को भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल का स्पष्ट ज्ञान होता है, इसलिये, वे जो कुछ कहते हैं, वह प्रामाणिक होता है। उसका उपदेश सुनना सभी के लिए सुलभ नहीं है। क्योंकि ऐसे ज्ञानी सन्त कहीं-कहीं ही मिलते हैं। धर्माचरण वाले और मोक्ष की कामना करने वाले पुरुष ही उनके समीप जा पाते हैं और

उनको ही, उन ऋषि, महर्षियों के उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार वेद आदि शास्त्रों के दर्शन, उनका अध्ययन या उनके उपदेश के अनुसार होने वाले यज्ञादि के दर्शन भी धार्मिक व्यक्ति ही कर पाते हैं। जो पुरुष अधर्मी या पापी हैं उनकी रुचि भी सन्त-दर्शन और उपदेश-श्रवण की ओर नहीं होगी। इसलिए यह मान्यता ठीक है कि ऋषियों के उपदेश और यज्ञादि पुण्य पदार्थों के दर्शन धर्म-वान् पुरुषों को ही होते हैं। इस सूत्र का यह भी अर्थ होता है कि 'सिद्ध पुरुषों के दर्शन और उनके यथार्थ उपदेशों को सुनने का धार्मिक जन ही सौभाग्य प्राप्त करते हैं।' ठीक भी है—अधर्मियों को ऐसा अवसर ही नहीं मिल सकता।

॥ नवमोऽध्यायः द्वितीयाह्निकम् समाप्तम् ॥

---

# दशमोऽध्यायः—प्रथमाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणद्विशेषाद्विरोधाच्च तिथिः सुखदुःख-
योरर्थान्तरभावः ।१।

**सूत्रार्थ**—इष्ट अनिष्ट कारण विशेषात्=इच्छत और अनिच्छत कारणों की विशेषता से, च=और, मिथः=परस्पर, विरोधात्= विरोध से, सुख दुःखयोः=सुख और दुःख में' अर्थान्तर-भावः=परस्पर में विरुद्ध भाव होता है।

व्याख्या—सुख और दुःख दोनों के लक्षण एक दूसरे से विरुद्ध भाव वाले हैं। सुख की प्राप्ति इच्छित है अर्थात् सुख मिले यही इच्छा सदा रहती है, परन्तु दुःख की प्राप्ति अनिच्छा से हो जाती है। अर्थात् यह कोई नहीं चाहता कि मुझे दुःख की प्राप्ति हो। इस प्रकार सुख इच्छित और दुःख अनिच्छत होने से, दोनों में परस्पर विरोध है। क्योंकि सुख हैं तो दुःख का अभाव होगा, और दुःख हैं तो सुख नहीं रहेगा। इन दोनों के लक्षणों में भी भिन्नता है। सुखी मनुष्य का मुख प्रसन्न रहता हैं, वह शरीर से स्वस्थ और अच्छे वस्त्राभूषण धारण किये उमंग वाला होता है। परन्तु दुःखी मनुष्य के मुख पर मलिनता दिखाई देती है, उसका शरीर निर्बल प्रतीत होता हैं और दुःख के कारण अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण करने की इच्छा ही नहीं हो पाती। इससे सिद्ध होता है कि सुख और दुःख परस्पर विपरीत लक्षण वाले हैं। अर्थात्तर भाव' का यही तात्पर्य है और इसलिए सूत्रकार ने सुख-दुःख को पर-स्पर विरोधी कहा है।

**संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः।२।**

**सूत्रार्थ**—च=और, संशय-अन्तरभावः=संशय और निर्णय में किसी प्रकार के अन्तर का अभाव ज्ञानान्तरत्वे=सुख दुःख के पृथक होने वाले ज्ञान के अन्तर में, हेतुः=कारण रूप है।

व्याख्या—सुख दुःख में विपरीत लक्षण होने के कारण सन्देह और परीक्षण की दृष्टि से निर्णय भी विपरीत होता है। अथवा इसे यों समझना चाहिए कि जब मनुष्य सन्देह में रहता है और कोई निर्णय नहीं कर पाता तो इस सन्देह और निर्णय के बीच की स्थिति निरीक्षण या परीक्षण है, उसके द्वारा यथार्थ वस्तु का ज्ञान हो जाता है उस ज्ञान को सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला समझना चाहिए। सन्देह उसे कहते हैं, अमुक वस्तु गाय है या बैल ? अब इसके चिन्हों को देख पर परीक्षण किया तो स्पष्ट ज्ञान हो गया कि यह गाय है, तो गाय को उसके चिन्हों की परीक्षा करने से जाना गया। यह जानना ही निर्णय है। इसी निर्णय के द्वारा यह निश्चय होता है कि अमुक वस्तु उपयोगी है अथवा अमुक वस्तु उपयोगी नहीं है। ज्ञान को दो प्रकार का मानते हैं—एक सान्देहिक अर्थात् जिसके वास्तविक होने में सन्देह हो और दूसरा आनुमानिक अर्थात् जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाय कि अमुक वस्तु गाय ही होगी और वह अनुमान ठीक हो तो उसे निर्णय कह सकते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि परीक्षण ही निर्णय की कसौटी है। उसी के द्वारा सुख और दुख में क्या अन्तर है, यह जाना जा सकता है।

**तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ।३।**

**सूत्रार्थ**—तयोः=उस सुख दुःख की, निष्पत्तिः=उत्पत्तिः प्रत्यक्ष-लैङ्गिकाभ्याम्=प्रत्यक्ष और अनुमान से हो सकती है।



व्याख्या—सन्देह और निर्णय उन्हीं पदार्थों के प्रति होता है,

जिनकी सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा अनुमान के द्वारा होती हों। सुख दुःख का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता और न उसका अनुमान ही होता है। उसकी उत्पति विषयों से होती है। परन्तु विषय से उत्पन्न होने वाले सुख के तीन भेद माने गये हैं—(१) मनोवांछित अर्थात् मन में बड़ीं-बड़ी कामनायें करें और उन कामनाओं की पूर्ति हो जाय (२) आहङ्कारिक अथवा मानसिक जो दूसरों को तुच्छ और अपने को महान समझने से जो सुख उत्पन्न हो और (३) आभ्यासिक-जो योगाभ्यास आदि से उत्पन्न हो। इसी प्रकार दुःख के भी कई भेद हैं जो सुख के विपरीत साधनों से उपलब्ध होते हैं। इसे इस प्रकार समझिये कि मन से जो कामकायें है, उनकी पूर्ति न होने से दुःख का उत्पन्न होना दूसरों को तुच्छ और अपने को महान समझने में दूसरों का निरादर होने से द्वेष के कारण उनके द्वारा अपकार होने से दुःख का उत्पन्न होना और योगासनों का उल्टे-पुल्टे रूप में लगाने से शारीरिक कष्ट होना और अभ्यास का सिद्ध न होना यह सब दुःख रूप ही है। इन कारणों के सिवाय अन्य अनेक कारणों से सुख-दुःख की प्राप्ति हो सकती है। इनमें इन्द्रिय जनित विषयों से प्राप्त सुख-दुःख को उनके लक्षणों का ज्ञान होने से जान सकते हैं, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे किसी का विषादमय चेहरा देखकर दुःखी और प्रफुल्लित मुख देखकर सुखी होने का अनुमान हो जाता है और अनेक व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से सुख या दुःख पाते देखते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सुख दुःख की जानकारी अनुमान से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है।

अभूदित्यपि ॥४॥

सूत्रार्थ—अभूत=पहिले कभी न हुआ, इति=इससे, अपि=भी दुःख, सुख का उत्पन्न होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस सुख का पहले कभी अनुभव न हुआ हो और किसी कारणवश अकस्मात उस सुख की प्राप्ति हो जाय उसे अभूत कहते

है। यही बात दुःख के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। किसी पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति होना अभूतपूर्व सुख है और किसी परम्परा से धनिक चले आने वाले पुरुष का धन लुप्त हो जाना अभूतपूर्व दुःख है। कुछ व्याख्याकार 'अभूत' पद का अर्थ समय से लगाते हैं, जैसे भूतकाल में हुआ था और 'अपि' से तात्पर्य भविष्यत में होगा। परन्तु भूतकाल और भविष्यत काल का व्यवहार अनुमान आदि में हो सकता है, सुख-दुःख में नहीं हो सकता। सुख होगा, दुःख होगा, ऐसा अनुमान तात्कालिक लक्षणों को देखकर हो सकता है, परन्तु निश्चित रूप नहीं कहा जा सकता कि सुख होगा या नहीं। इसी प्रकार जंगल में आग लगी थी, यह बात जले हुए पेड़ों से अनुमान की जा सकती है। दुःख उत्पन्न हुआ या मैं सुख पा रहा हूँ—ऐसा अनुभव सुख-सुख के वर्तमान काल का हीं बोधक है।

## सति च कार्यादर्शनात् ।५।

**सूत्रार्थ**—कार्य-अदर्शनात्=सुख-दुःख का कार्य प्रत्यक्ष न देखे जाने से, च=भी, सति=सुख, दुःख का होना सिद्ध होता है।

**व्याख्या**—सुख-दुःख नामक कोई ऐसे पदार्थ नहीं हैं, जिन्हें प्रत्यक्ष देखा जा सके। इनमें से एक का अभाव हो तो दूसरे का अस्तित्व होना सिद्ध होता हैं, अर्थात् कोई एक पुरुष दुःखी नहीं है। उसके पुत्र, पुत्री, धन, धान्य, खेत, मकान मान प्रतिष्ठा आदि सब कुछ है इसलिए उसे सुखी पुरुष कहा जायेगा। क्योंकि इसे दुःख का अभाव होने से दुःखी पुरुष नहीं कह सकते। इसी प्रकार जो पुरुष धन-संतान, घर बार आदि से रहित है और जिसकी भोगेच्छा समाप्त नहीं हुई है वह साधन-हीन होने से दुःखी ही कहा जायेगा, क्योंकि उसी सुख का अभाव है। सुख या दुःख कोई मूर्तिमान पदार्थ न होने से अनुमान का विषय ही हो सकते हैं। जैसे सुखी मनुष्य में सुख का

प्रसन्न होना, स्वस्थ होना आदि लक्षण पाये जाते हैं और दुःखी मनुष्य में मुख की मलिनता, निर्बलता आदि का होना देखा जाता है।

**एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ।६।**

**सूत्रार्थ**—एकार्थ-समवायि-कारणान्तरेषु=समवायि कारण के अतिरिक्त कारण में एकार्थ, दृष्टत्वात्=देखे जाने से सुख-सुख पृथक पृथक् होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस कारण में एक अर्थ है, उसी में आवश्यक होने पर विशेष भेद हो जाने से सुःख-दुःख का एक दूसरे से भिन्न होना सिद्ध होता है। क्योंकि, सुख-दुःख के भी अनेक कारण एक अर्थ वाले हैं, जैसे किसी से धनःप्राप्त करने की चेष्टा करे तो उस धन के मिल जाने पर सुख मिल सकता है और न मिलने पर दुःख। इसमें धन प्राप्त करने की चेष्टा एक ही विषय है, उसके दो परिणाम् हो सकते हैं धन मिलने से सुख और न मिलने से दुःख। अब दूसरे प्रकार से भी एकार्थ कारण को समझिये कि सुख का सामान्य कारण, जो एक ही अर्थ में निहित है, वह है धर्म। कार्यों के करने से सुख की प्राप्ति होती है, यह मान्यता है। यदि कहें कि पाप-कर्मियों का भी सुखी होना प्रत्यक्ष देखते हैं, तो उसका कारण प्रारब्ध है। प्रारब्ध पूर्व-जन्म के कर्मों को कहते हैं। पूर्व-जन्म में शुभ कर्म किये हों उनका फल भोग शेष रहने पर, इस जन्म में उनके भोग-रूप सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अधर्म को दुःख का कारण मानते हैं। लोक में अनेक धार्मिक पुरुषों को दुःख पाते हुऐ देखा जाता है, उसका कारण पूर्व जन्म के पाप-कर्म हैं, उनका भोग तो भोगना ही होगा। यद्यपि कोई नहीं चाहता कि दु;ख भोगा जाय। सभी, दुःख से द्वेष रखते हैं, परन्तु अपने ही किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए जीवात्मा विवश है। जो व्यक्ति दुःख से छुटकारा पाने के लिए शुभ कर्म-रूपी प्रयत्न करते हैं, वे भोग पूरा होने पर सुख प्राप्त करते हैं। तात्पर्य

यह है कि पाप कर्मी भी यदि संभल जाय और शुभ कर्म करने लगे तो उसके पाप-कर्मों की शक्ति घटने लगती है। जैसे, रेलगाड़ी का इजन तेजी से चल रहा है, उसकी चाल को धीमी करने के लिए रोक लगा देने से तेजी कम होकर धीरे-धीरे गाड़ी रुक जाती है, वैसे ही पाप-कर्मों पर पुण्य कर्मों की रोक लगने से उनका प्रभाव घटता जाता है और आगे चलकर पाप कर्म समाप्त होने से दुःख की भी समाप्ति हो जाती है। जिस समय से पुण्य कर्मों का किया जाना प्रारम्भ होता हैं उसी समय से पाप कर्मों की शक्ति क्षीण होने लगती है और पुण्य के पाप पर हावी होने के कारण दुःखों में भी कमी होने लगती है।

**एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्टमुदर मर्माणि तद्वि-शेषस्तद्विशेषेभ्यः ।७।**

**सूत्रार्थ**—एकदेशे=एक ही शरीर में, शिरः पृष्ठ-उदरम् मर्माणि =शिर, पीठ, उदर, मर्म-स्थल आदि, इति=ऐसा व्यवहार, एकस्मिन् =एक के अङ्ग रूप से होता हैं तद्विशेष=उन अङ्गों की विशेषता, तद्विशेयेभ्यः=उनके कारण की विशेषता से है।

व्याख्या—एक ही शरीर में यह शिर है, यह पेट है, यह पीठ है यह कर्मस्थल है, यह हाथ पाँव हैं, इस प्रकार अंग विभाग, उनके कारण में विभाग होने से हैं। प्रत्येक अङ्ग का प्रत्येक विशेष कारण है। तात्पर्य यह है कि जिस परमाणु से सिर बना, उससे पेट नहीं बना और जिससे पेट बना उससे सिर नहीं बना। अङ्ग पञ्चतत्वों से निर्मित कहे जाते हैं, परन्तु किसी में किसी एक तत्व की विशेषता है तो किसी में किसी दूसरे तत्व की विशेषता है। किसी में पृथिवी तत्व अधिक हैं, किसी में जल तत्व, किसी में अग्नि तत्व, किसी में वायु तत्व और किसी में आकाश तत्व। पिछले अध्यायों में उसका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं और यहाँ संक्षेप में समझाते हैं कि पृथिवी तत्व का विशेष गुण गन्ध

है और नासिका ही उस गुण अर्थात् गन्ध को ग्रहण कर सकती है, इस लिए नासिका का कारण पृथिवी तत्व हैं। जल तत्व का गुण रस है, जिह्वा का कार्य रस को ग्रहण करना होने से जिह्वा का कारण जल तत्व है। अग्नि तत्व का गुण रूप है और नेत्र रूप को ग्रहण करते है, इसलिए नेत्र का कारण अग्नि तत्व है। वायु का गुण स्पर्श है और त्वचा का धर्म स्पर्श का अनुभव करना होने से त्वचा का कारण वायु तत्व है। आकाश का गुण शब्द है और कान शब्द को ग्रहण करते है, अत: उनका कारण आकाश तत्व है। वैसे सब अंगों में सभी तत्वों का आंशिक समावेश है और एक-एक तत्व के अधिक अंश होने से ही उनमें कारण की विशेषता पाई जाती है। इसलिए, सूत्रकार ने शरीर के अंग में भेद होने के कारण के भेद होने से कहा है।

। दशमोऽध्याय: प्रथमाह्निकम् समाप्तम्।

# दशमोऽध्याय:-द्वितीयाह्निकम्

## कारणमितिद्रव्ये कार्यसमवायात् ।१।

**सूत्रार्थ**—कारणम्—यह कारण है, इति=ऐसी प्रतीति, द्रव्ये= द्रव्य में होती है, कार्य-समवायात्=कार्यों का द्रव्यों से समवाय संबन्ध होने से ऐसा ही माना जाता है।

व्याख्या—द्रव्यों में कार्यों का समवाय सम्बन्ध देखने से कारण होने का अनुभव होता है। कार्य-भेद का कारण भी कारण-भेद ही है अर्थात् कारणों में विभिन्नता होने से कार्यों में विभिन्नता होती है। द्रव्य में गुण और कर्म दोनों समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, परन्तु गुण, कर्म में द्रव्य नहीं रहता। इस प्रकार जो किसी का आश्रय नहीं, बल्कि स्वयं दूसरों के

आश्रित हो, वह समवायि-कारण नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य में गुण कर्म का निवास समवाय सम्बन्ध से है।

संयोगाद्वा ।२।

**सूत्रार्थ**—वा=अथवा, संयोगात्=संयोग से भी समवाय सम्बन्ध का होना सिद्ध होता है।

**व्याख्या**—वस्त्र के उत्पादन में धागे उसके समवायी कारण हैं और वस्त्र बुनने वाले जुलाहे के जो साधन बुनने के काम में आते हैं, उनका धागों से संयोग होने पर वस्त्र बुना जाता है इसलिए, वे वस्त्र बुनने के हेतु होने से निमित्त कारण हैं। क्योंकि समवायी कारण रूप संयोग की उत्पत्ति वस्त्र के बुन जाने पर ही होती है। इसलिए द्रव्य ही समवायी कारण और निमित्त कारण भी है। उपादान कारण होना द्रव्य में ही पाया जाने से उसका समवायी कारण होना सिद्ध होता है और साधन होने से निमित्त कारण बनता है। समवायी निमित्त और असम्वायी इन तीन प्रकार के कारणों में द्रव्य का समवायीं कारण और निमित्त कारण होना सिद्ध कर चुके, अब कर्म किस प्रकार कारण है, यह अगले सूत्र में स्पष्ट किया जाता है।

कारणेऽसमवायात् कर्माणि ।३।

**सूत्रार्थ**—करणे=कारण से सम्बन्धित, कर्माणि=कर्मों में, असमवायात्=असमवायी होने से, यही समझना चाहिए।

**व्याख्या**—कर्म असमवायी कारण है। जो कारण और कार्य के सम्बन्ध को एक में ही संयोजित करदे उसे समवायी कारण कहते हैं। असमवायी कारण कार्य में रहने वाला हो तो छोटा माना जाता है और कारण में रहने वाला हो तो बड़ा कहा जायेगा। कारण में रहने वाला कर्म कारण कहा जाता है और कार्य में रहने से कर्म संयोग आदि का समवायी कारण हो जाता है।

## तथा रूपे कारणैः कार्यसमवायाच्च ।४।

**सूत्रार्थ**—तथा=उसी प्रकार, कारणैकार्य-समवायात्=कारण का कार्य से समवाय सम्बन्ध होने से, रूपे=रूप आदि गुणों में, च=भी कारण होना माना जाता है।

व्याख्या—इस सूत्र से रूप आदि गुणों के सम्बन्ध में उपलक्षण उपस्थित किया गया है। अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि का द्रव्य होना कहा है। इस समस्त रूप आदि गुणों का समवायी कारण द्रव्य है। उसके साथ संयुक्त रहने रूप आदि को उत्पन्न करने वाला है।

## कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ।५।

**सूत्रार्थ**—कारण समवायात्=तन्तु के समवायी कारण होने से, संयोगः=उनका परस्पर मिलना, पटस्य=वस्त्र के उत्पन्न होने का कारण होता है।

व्याख्या—सकवायी कारण के साथ जो संयोग रहता है, वह भी समवायी कारण हो जाता है। जैसे धागे वस्त्र के समवायी कारण हैं, परन्तु उनका संयोग अर्थात् परस्पर मिलना भी समवायी कारण ही कहा जायेगा। क्योंकि, वस्त्र धागों के पारस्परिक संयोग के बिना बन ही नहीं सकता। एक घास के बड़े गट्ठर में घास की पोटली मिला देने पर महत्व परिणाम-कार्य कहा जायेगा। क्योंकि जब उस घास का अलग-अलग गट्ठर बनाया जायेगा तो वह महत् बन जायेगा और कारण का जो कारण है, उसका समवाय हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि घास के अवयवों से गांठ बनी और वैसी ही गांठ बनने से महत् कार्य बन जायेगा।

## कारणकारणसमवायाच्च ।६।

**सूत्रार्थ**—च=और, कारणकारण समवायात्=कारण का कारण समवाय होने से अणुत्व और महत्व बनता है।

व्याख्या—मिट्टी के अवयवों के मिलने में अर्थात् संयोग से मिट्टी का गोला बन गया। उस संयोग ने ही महत्व को उत्पन्न किया। क्यों कि वह संयोग कारण में मिल कर रहा, इससे महत्व की उत्पत्ति हुई। आशय यह है कि परमाणुओं के संयोग से ही महत पदार्थों में महत्व होता है। जब तक परमाणुओं का संयोग नहीं होगा, तब तक महत्व बनेगा ही नहीं।

**संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ।७।**

सूत्रार्थ—संयुक्त-समवायात्—संयोग से समवाय होने के कारण अग्नेः=अग्नि का, वैशेषिकम्=विशेष गुण ऊष्णता उत्पत्ति का कारण होता है।

व्याख्या—अग्नि का विशेष गुण उष्णता अर्थात् गर्मी है, वह पाकज अर्थात् पकाने का कार्य करने वाला होने में निमित्त कारण है। जिस प्रकार अग्नि की विशेषता उष्णता बताई गई, वैसे ही जितने भी निमित्त कारण हैं, उन सब की अपनी-अपनी विशेषता है। अग्नि के पाकज गुण के द्वारा रूप, रंग आदि की उत्पत्ति होना कहा है। क्योंकि वह अपनी मिली हुई समवाय के द्वारा गर्मी पहुंचा कर किसी वस्तु को रंगीन बनाने में समर्थ है। अपनी गर्मी के विशेषगुण से ही अग्निअनाज तथा फल आदि को पकाकर तैयार करता है। इस प्रकार फल आदि की उत्पत्ति में अग्नि का संयोग असमवायी कारण होगा और फल आदि का उत्पादन कारण समवायी कहा जायेगा। गर्मी को स्पर्श आदि के मिलने पर निमित्त कारण मानना चाहिए।

**दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्यु-दयाय ।८।**

सूत्रार्थ—दृष्टानाम्=वेदादि में उपदेशित कर्म, दुष्ट प्रयोजना-नाम्=जिन का ... दृष्टाभावे

उनका तत्काल फल न मिलने पर भी, प्रयोग:=किये जाने के योग्य, अभ्युदयाय=परम सौभाग्य रूप जो सुख तथा मोक्ष आदि हैं, उनकी प्राप्ति के अभिप्राय से ही करते रहना चाहिये।

**व्याख्या**—वेद आदि शास्त्रों में जिन कर्मानुष्ठानों के करने का उपदेश मिलता है, वे कर्म इसी लोक में किये जाते हैं। यदि उनका कोई फल न मिले तो भी, उन कर्मों को बारम्बार करते रहना चाहिये, क्योंकि वेद-शास्त्रों के उपदेश मिथ्या नहीं होते। उन कर्मों का फल इस लोक में नहीं मिला है, तो परलोक में अवश्य मिलेगा। इस जन्म में नहीं मिला तो पुनर्जन्म लेने पर मिलेगा। यदि सांसारिक कार्यों में उसका कोई फल नहीं मिला तो वह मोक्ष आदि की प्राप्ति में सहायक होगा। क्योंकि कर्मों में पूजन और स्तुति का समावेश रहने से, उनका प्रभावशाली होना ही सिद्ध होता है। जिसकी स्तुति करेंगे, वह उस स्तुति को अवश्य सुनेगा। जिसकी पूजा की जायगी, वह अवश्य प्रसन्न होगा। वेदों में निष्काम कर्म करने का भी उपदेश दिया है। वे कर्म अपने लिए हितकारी न होंगे तो उनसे दूसरों का उपकार अवश्य होगा और जिससे दूसरों का उपकार हो, वह कभी अपना भी उपकार करेगा। 'सर्व-भूत-हिते रताः' गीता का यह वाक्य हमारे दृष्टिकोण को एक दम विस्तृत कर रहा है। उसका पालन करने में अपनी तो कोई हानि है ही नही, यदि जन कल्याण का कार्य हो जाय तो वह भी श्रेयस्कर होगा। जीव की हिंसा न करने वाले 'अहिंसा परमोधर्मः' अर्थात् "अहिंसा परम धर्म है" इस उपदेश को पालें तो अपनी क्या हानि हो सकती है? मान लें कि इससे कोई लाभ भी नहीं है, जिससे लाभ नही हानि भी नहीं, तो उसके करने में कोई दोष नहीं हो सकता। सम्भव है—जिस कर्म में हम कोई लाभ नहीं देखते, वह कर्म कभी लाभदायक हो ही जाय। 'न करने से कुछ करना अच्छा है' इस नियम के अनुसार मनुष्य को कुछ कर्म करते रहना चाहिये। परन्तु

ऐसा कर्म करना उचित है, जिससे दूसरों की हानि न होती हो। ऐसा करने से कभी न कभी उसका श्रेष्ठ फल, किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त होगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। क्योंकि, सभी कर्म ईश्वर के लिये निवेदन किये जाने वाले होने से उनका निष्फल होना सिद्ध नहीं होता। मनुष्य तो इन्द्रियों के विकार-युक्त होने से आलस्य, राग, द्वेष, क्रोध आदि के कारण किसी के कार्य का फल देने में समर्थ या स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु ईश्वर के निर्विकार और सर्व-समर्थ होने से अभीष्ट फलदाता होने में कोई सन्देह नहीं है।

### अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः ।८।

**सूत्रार्थ**—अस्मद्-बुद्धिभ्यः=सब के ज्ञान के लिये, ऋषेः=ऋषियों या ईश्वर को प्रतिपादन करने वाला, लिङ्गम्=प्रमाण मिलता है।

**व्याख्या**—ऋषियों ने सबको परमात्मा का महत्व बताने वाला ज्ञान प्रकाशित किया है। यदि ऋषिगण उस ज्ञान का प्रकाश न करते तो सर्व साधारण मनुष्य क्या, बड़े-बड़े धर्मात्मा पुरुष भी ईश्वर के महत्व को न जान पाते और ईश्वर के महत्व को न जाननेका परिणाम यह होता कि संसार में धर्म-कर्म, यज्ञ, स्वाध्याय आदि कहीं भी होते हुए दिखाई नहीं देते और तब मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करने वालों का भी अभाव रहता। इस प्रकार आध्यात्मिक कर्मों के होने से सर्वत्र अधर्म-रूपी अन्धकार फैला दिखाई देता। इससे यह मानना होगा कि जिन ऋषियों ने शास्त्र आदि का उपदेश किया, उनके कार्य की महानता से संसार को उनका आभार स्वीकार करना चाहिये।

### तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।१०

**सूत्रार्थ**—तद्वचनात्=उन ऋषियों के वचन से, आम्नायस्य=वेद के विभूति रूप होने का, प्रामाण्यम्=प्रमाण स्वयं सिद्ध होता है।

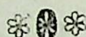
**व्याख्या**—जिन ऋषियों ने वेदादि शास्त्रों का प्रकाश किया, वे ऋषि त्रिकालदर्शी थे। वे जो कुछ कहते, वह अनुभवगम्य और प्रामाणिक होता। इसलिए उनके द्वारा प्रकाशित शास्त्रों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। उनके वे वेद आदि शास्त्र ही स्वयं प्रमाण हैं, जिनके द्वारा वेद आदि शास्त्रों के महान विभूति और जनोपकारक होने के वचन की सिद्धि होती है। वेदों में जिन आध्यात्मिक विद्याओं का वर्णन है, उनके सिद्ध होने पर मनुष्य को पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती हैं और जिन सांसारिक कर्म-अनुष्ठान आदि का उपदेश है उनके यथा-विधि किये जाने पर इस लोक में ही श्रेष्ठ फल की प्राप्ति हो जाती है। इससे यही मानना होगा कि वेदों में जिन कर्मानुष्ठान आदि का वर्णन है, उनके फल की प्राप्ति इस लोक में ही देखे जाने से वेदों का विभूति रूप होना सिद्ध है और उन कर्मों के फल की सिद्धि ही उनके प्रामाणिक होने को सिद्ध करती है। इसी से वेदों का महानतम होना भी सिद्ध होता है।

॥ दशमोऽध्यायः—द्वितीयाह्निकम समाप्तम् ॥

॥ वैशेषिकदर्शनं सम्पूर्णम् ॥



# विश्व ओंकार परिवार की स्थापना



ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र-राज, बीज मन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम, महानतम और पवित्रतम मन्त्र की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं है। यह सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से भावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता है। भौतिक व आध्यात्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषि मुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी को अनुभव करते हुए विश्व ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय बरेली से मंगवा लें। आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके चार अन्य मित्रों व सम्बन्धियोंको प्रेरित करें और सभी संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष ३३००० साधकों द्वारा १५०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है कि ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के श्रेष्ठतम आध्यात्मिक महायज्ञ में आप सम्मिलित होकर महान पुण्य के भागी बनेंगे।

ओंकार रहस्य, ओंकार दैनिक विधि, ओंकार चालीसा; ओंकार कीर्तन और ओंकार भजनावली नामक २० पैसे मूल्य वाली सस्ती पुस्तिकाओं को अधिक से अधिक संख्या में वितरित करें।

विनीत :
चमनलाल गौतम

विश्व ओंकार परिवार
ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली—२४३००३ (उ० प्र०)

# भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम धर्म-ग्रन्थ

| | | |
|---|---|---|
| १—ऋग्वेद ४ खण्ड | .... | ७६) |
| २—अथर्व वेद २ खण्ड | ... | ३८) |
| ३—यजुर्वेद | ... | १९) |
| ४—सामवेद | ... | १७) |
| ५—१०८ उपनिषद् ३ खण्ड | ... | ६०) |
| ६—बृहदारण्कोपनिषद | ... | १२) |
| ७—छान्दोग्योपनिषद् | ... | १२) |
| ८—ईशावास्योपनिषद् (भा.टी.) | ... | १२) |
| ९—कठोपनिषद् (भा.टी.) | ... | १२) |
| १०—वशेषिक दर्शन | ... | १३) |
| ११—न्याय दर्शन | ... | १३) |
| १२—सांख्य दर्शन | ... | १३) |
| १३—योग दर्शन | ... | १२) |
| १४—वेदान्त दर्शन | ... | १४) |
| १५—मीमांसा दर्शन | ... | १८) |
| १६—मनुस्मृति | ... | २८) |
| १७—योग वासिष्ठ २ खण्ड | ... | ४८) |
| १८—ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता (भा.टी.) | ... | २५) |
| १९—अष्टावक्र गीता | ... | १२) |
| २०—विचार सागर | ... | ३०) |
| २१ विचार चन्द्रोदय | ... | ७) |
| २२—पञ्चीकरण | ... | १०) |
| २३—उपदेश साहस्री | ... | १२) |
| २४—वृत्ति प्रभाकर | ... | १५) |
| २५—सौन्दर्य लहरी | ... | १२) |

प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, वेदनगर
बरेली-२४३००३ (उ०प्र०)